शासन-मुक्त समाज की ओर

•

धीरेन्द्र मजूमदार

•

अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन
राजघाट, काशी

प्रकाशक
अ० वा० सहस्रबुद्धे,
मंत्री अखिल भारत सर्व
वर्धा (म० प्र०)

(संशोधित और परिवर्धित संस्करण)
दूसरी बार १०,०००
कुल प्रतियाँ २५,०००
अगस्त, १९५५
मूल्य छह आना

मुद्रक
विश्वनाथ भार्गव,
मनोहर प्रेस,
जतनबर, बनारस

प्रस्तावना

•

आचार्य विनोबा भावे द्वारा प्रवर्तित भूदान-यज्ञ ने आज सर्व भारतीय दृष्टि को आकृष्ट कर लिया है। केवल भारत ही नहीं, सारे विश्व की नजर इस आन्दोलन पर है। दो साल पहले, जब विनोबाजी सेवाग्राम से दिल्ली के लिए रवाना हुए, तब कौन जानता था कि यह यात्रा एक 'विश्व-क्रान्ति' का रूप ले लेगी। केवल विरोधी ही नहीं, साथियों का भी कहना था कि तेलंगाना में जो जमीन मिली, वह एक विशिष्ट परिस्थिति के दबाव के ही कारण मिली थी। दूसरे प्रदेशों में जमीन दान में नहीं मिल सकेगी। अगर मिलेगी भी, तो जैसे भारत में साधु-सन्तों को दान देने की सनातन परिपाटी है उसीके अनुसार हजार पाँच सौ एकड़ जमीन भले ही दान में मिल जाय। लेकिन विनोबाजी, जो कहते हैं कि वे इस आन्दोलन द्वारा भूमि समस्या हल करना चाहते हैं, उसकी सिद्धि में इस यात्रा का कोई महत्त्व नहीं है।

विश्व-क्रान्ति का स्वरूप

धीरे-धीरे लोगों ने देखा कि भूमि का दान मिल रहा है और वह सनातन परिपाटी के परिणामस्वरूप नहीं, बल्कि विशेष व्यापकता के साथ। फिर भी लोगों में शंका बनी ही रही कि इस आन्दोलन का कोई नतीजा निकलेगा या नहीं। लेकिन चार साल में आज सारी दुनिया आन्दोलन की प्रगति देखकर आश्चर्यचकित है। सतों के सामान्य दान के रूप में सोचने की शुरुआत से लोगों ने इसे इस युग के एक बहुमत व्यापक परोपकारी कार्यक्रम के रूप में देखा। लेकिन आखिर उन्हें मालूम हो गया कि यह एक विश्वक्रान्ति है।

क्रान्ति क्या है ?

समालोचकों का कहना है कि 'क्रान्ति' शब्द का एक फैशन बन ग
है। कोई थोड़ा-सा भी काम करता है तो सोचता है कि मैं क्रान्ति क
रहा हूँ। इसी तरह से सत विनोबा भी सोच रहे हैं। आखिर ये समालोच
किसे क्रान्ति कहते हैं? क्या धुआँधार संघर्ष हो या खून की नदियाँ ब
तभी समझा जायगा कि क्रान्ति हो रही है? अगर ऐसी बात है तो सत
में दो राजाओं का युद्ध, साम्प्रदायिक दगा आदि सभी क्रान्ति हैं।

क्रान्ति की पहचान

क्रान्ति की पहचान बतलाते हुए आचार्य कृपालानी कहते हैं—
"क्रान्ति की सबसे बड़ी पहचान यह है कि एक मामूली कार्यकर्ता भ
इसके प्रवाह और प्रेरणा से वह काम सम्पादित कर सकता है, जो उससे
बड़ी योग्य व्यक्ति दूसरी तरह बड़ी भी नहीं कर पाते।" राष्ट्रीय नेताओं
के लिए यह बहुत कठिन था कि वे लोगों को भूमि से अलग होने के
लिए राजी करते। लेकिन आज लोग उन मामूली नवयुवकों और युवतियों
को जमीन दे रहे हैं, जिन्होंने इस काम को विनोबाजी की प्रेरणा से अप
नाया और जो इससे पहले राष्ट्र के सार्वजनिक जीवन में अज्ञात थे, बल्कि
जिनमें से कुछ अभी बालिग भी नहीं हुए हैं। वस्तुतः क्रान्ति की एक
बड़ी पहचान यह है कि आबाल वृद्ध, वनिता उसमें पूरी शक्ति और निष्ठा
के साथ लग जाते हैं।

समालोचक चाहे जो कहें, आज दुनिया की जनता यह महसूस कर
रही है कि 'भूमिदान यज्ञ' एक महान् क्रान्ति है, जिसका असर सिर्फ
भूमिपतियों तथा भूमिहीन मजदूरों पर ही नहीं, बल्कि दुनिया के सारे
जीवन-दर्शन, प्रचलित धारणाओं तथा मूल्यांकन पर पड़ने लगा है।

भूदान आन्दोलन : धर्म-चक्र-प्रवर्तन

आचार्य विनोबा भावे ने अपने आंदोलन को 'धर्म-चक्र प्रवर्तन'

रहा है। उनका कहना है: "सामान्य धर्मप्रचार और क्रांति या 'धर्म-चक्र प्रवर्तन' ये दो भिन्न भिन्न वस्तुएँ हैं। सामान्य धर्म तो ऋषि और संत लोग हमेशा समझाते रहते हैं। इसलिए सर्वसामान्य धर्मप्रचार एक बात है और जमाने की माँग क्या है, यह पहचान कर धर्म विचार उसके साथ जोड़ देना दूसरी बात है। संत और ऋषि मामूली धर्म-प्रचार तो हमेशा करते रहते हैं, परन्तु उससे धर्म चक्र प्रवर्तन नहीं होता। जहाँ परिस्थिति के साथ धर्मभावना जुड़ जाती है, वहाँ वह लोगों के दिल को छूती है। इससे बड़ी शान्ति पैदा होती है और इसीसे धर्म चक्र प्रवर्तन होता है।" अर्थात् धर्म प्रचार से सुधार और धर्म-चक्र-प्रवर्तन से क्रांति होती है।

जमाने की माँग

वस्तुत: जमाने की माँग क्रांति की पुकार हुआ करती है। युग युग में हमेशा ऐसे जमाने आते रहे हैं, जिस समय समाज का सारा ढाँचा तोड़कर नया ढाँचा बनाना अनिवार्य हो गया है। ऐसे जमाने में सामाजिक क्रांति की आवश्यकता होती है। मानव समाज के लिए महान् कल्याणकारी समाज-पद्धति भी कालक्रम में महान् विनाशकारी पद्धति बन सकती है। ऐसी दशा में सारे समाज से एक सहज पुकार उस पद्धति को तोड़कर नयी पद्धति कायम करने की होती है। उसीको जमाने की माँग या क्रांतिकारी परिस्थिति कहते हैं।

परिवर्तन की प्रक्रिया

एक सामान्य मिसाल से क्रांति की आवश्यकता स्पष्ट रूप से समझ में आ जायगी। मान लें कि किसी समय एक परिवार ने अपनी सुख-सुविधा और सुरक्षा के लिए विचारपूर्वक अत्यन्त सुविधाजनक मकान बनाया। क्रमशः स्थिति में दो प्रकार का परिवर्तन हुआ। कालक्रम से पुराना होने के कारण मकान की ईंट में लोनी लगी, लकड़ी आदि सामग्री सड़ी और पीढ़ी-दर-पीढ़ी पारिवारिक परिस्थिति में हेर फेर हुआ।

शुरू शुरू में लोग काफी दिनों तक मकान की मरम्मत करते रहे और पारिवारिक स्थिति के बदलाव के साथ-साथ मकान की स्थिति में भी रद्दोबदल करते रहे। आखिर एक समय ऐसा आया कि सड़न के कारण घर टूटकर गिरने लगा। रहनेवालों को जान को खतरा हुआ। रद्दोबदल करते-करते उसकी हालत ऐसी हो गयी कि नयी परिस्थिति में उसके अन्दर गुजारा करना असम्भव हो गया। ऐसी हालत में लोग उस मकान को गिराकर नया मकान बनाते हैं, क्योंकि अब उसमें सुधार या मरम्मत की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती।

समाज के मूल्यांकनों में क्रांति

इसी तरह मनुष्य के कल्याण के लिए समाज का कुछ ढाँचा बनाया जाता है। तात्कालिक परिस्थिति के अनुसार कुछ धारणाएँ बनती हैं तथा वस्तुओं का मूल्यांकन किया जाता है। यह सब इसलिए होता है कि मानव समाज सुख और शांति से जीवन बिता सके। समय पाकर इन सबके रूढ़ि बन जाने से इस ढाँचे में तथा धारणा और मूल्यांकन में विकृति पैदा होती है। दूसरी ओर सतत परिवर्तनशील प्रकृति के प्रभाव से समाज की परिस्थितियों का निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। दोनों मिलकर ऐसी स्थिति पैदा करते हैं जिससे समाज का पुराना ढाँचा, जीवन की धारणाएँ तथा मूल्यांकन मौजूदा बदली हुई स्थिति में सुखकारी न होकर सकटकारी हो जाते हैं। ऐसे संकट से त्रस्त होकर समाज की अन्तरात्मा एक मामूली परिवर्तन की पुकार करती है। सारे समाज की अन्तरात्मा की पुकार दब नहीं सकती। वही पुकार मूर्तिमान् होकर क्रांति का रूप लेती है।

भूदान की सही भूमिका

अतएव भूमिदान-यज्ञ पर एक क्रांतिकारी आंदोलन की दृष्टि-भूमि से विचार करना होगा। विनोबाजी ने कहा है कि धर्म विचार जब जमाने की माँग के साथ जुड़ा हुआ होता है, तब क्रांति यानी धर्मचक्र प्रवर्तन

जाता है। हर क्रांति की द्रुत प्रगति भी इसी कारण हुआ करती है, क्योंकि जमाने की माँग के कारण सारे मानव समाज की दृष्टि ऐसे आंदोलन की ओर सहज खिंच जाती है। लेकिन जहाँ यह बात क्रांति को प्रगति देने के लिए एक शक्ति है वहाँ यही बल उसी क्रांति के लिए खतरा भी है। इसलिए जरूरी है कि भूमिदान-आंदोलन में कार्यकर्ता अपने काम के साथ क्रांति पर के खतरे के बारे में निरन्तर जाग्रत रहें।

रूढ़ि

शुरू शुरू में कोई क्रांतिकारी द्रष्टा जमाने की माँग को पहचान कर उसे पूरा करने का एक मार्ग उपस्थित करता है। प्रकृति के निरन्तर प्रगतिशील होने के कारण क्रांतिकारी मार्ग हमेशा नया होता है और उसकी मिसाल इतिहास में नहीं हुआ करती। यही कारण है कि जब क्रांतिकारी पुरुष नयी बातें करते हैं, तब यद्यपि साधारण जनता उसे समझ लेती है, पर पढ़े लिखे विद्वानों को उनकी बातें नहीं भातीं; क्योंकि पंडितों की बुद्धि प्रायः शास्त्रों की जिल्द के अन्दर गिरफ्तार रहती है और वे अपनी किताबों में लिखे हुए सूत्र के अनुसार ही बातें समझ पाते हैं। इसलिए वे प्रारम्भ में क्रांतिकारी की बातों की हँसी उडाते हैं, दूसरी ओर क्रांति के जमाने की माँग का सही पूरक होने के कारण जनसाधारण का दिल सहज ही उसकी ओर दौड़ता है। लेकिन प्रकृति से रूढ़िग्रस्त होने के कारण उनकी बुद्धि साधारणतः पंडितों की ओर ही झुकती रहती है।

क्रान्ति-द्रष्टा की गति

इस प्रकार क्रांतिकारी पुरुष शुरू शुरू में समाज में साधारण जनता के दिल को आकृष्ट करते हुए भी अकेला ही चलता है। लेकिन दिल साथ होने के कारण जल्दी ही वह जनता को अपनी ओर खींचकर उसे क्रांतिकारी मार्ग पर चलाने लगता है। फिर वह प्रगति जब व्यापक हो जाती है, तो पढ़े लिखे विद्वानों की भी दृष्टि आकृष्ट होती है। उनमें से दो एक ऐसे भी होते हैं जो जमाने की समस्याओं के समाधान के लिए

अपने पांडित्य की असारता महसूस कर नयी क्रांति की बात समझने लगत और उस क्रांतिकारी द्रष्टा के भक्त बन जाते हैं। भक्त बनने पर भी उन्हें सारी बातों को अपनी किताबी भाषा में अनुवाद करके ही सोचना पड़ता है। सिर्फ अपने ही सोचने के लिए नहीं, बल्कि अपनी विद्वान् बिरादरी को समझाने के लिए भी वे पुरानी किताबों के पन्नों में ही नयी क्रांति की बात ढूंढ़ने लगते हैं। विद्वानों के लिए ऐसी चेष्टा क्रांति के लिए प्रथम खतरा है।

गांधीजी की प्रवृत्तियाँ

गांधीजी ने मानव-समाज को शोषण तथा निर्दलन से बचाने के लिए चर्खे का सन्देश सुनाया। वे चर्खे के माध्यम से स्वावलम्बी आर्थिक व्यवस्था कायम करना चाहते थे, क्योंकि वे समझते थे कि जब तक स्वतन्त्र जनशक्ति के आधार पर मानव जीवन स्वावलम्बी नहीं होगा, तब तक मनुष्य को वास्तविक आजादी नहीं मिल सकती। यह स्वावलम्बी आर्थिक व्यवस्था एक नयी बात थी। गांधीजी के आंदोलन की विराट् प्रगति ने जिन बहुत से विद्वानों को उनका भक्त बना दिया था उन्होंने स्वभावतः पुरानी किताबों के पन्नों पर गांधीजी की बातों को ढूंढने की कोशिश की। किताबों में भारत की अति प्राचीनकालीन स्वावलम्बी समाज की बात जरूर पायी जाती है। लेकिन आधुनिक पण्डितजन उस स्थिति को मजबूरी का नतीजा मात्र समझकर उसे अवैज्ञानिक तथा प्रतिगामी मानने लगते हैं। इसलिए वह बात उन्हें भाती नहीं। आधुनिक किताबों में ढूँढते हुए उन्हें विकेंद्रीकरण का एक शब्द मिला और उन्होंने इसे पढ़ी लिखी दुनिया में प्रसिद्ध किया।

गांधीजी ने स्वावलम्बी समाज की बात दुनिया में मौलिक लोकतंत्र कायम करने के लिए ही की थी। लेकिन किताबों की समाज की विकेंद्रीकरण की धारणा वहाँ तक कैसे पहुँच सकती है? यही कारण है कि यद्यपि अमेरिका के हेनरी फोर्ड तथा फासिस्ट जापान के नेता विकेंद्रीकरण की बात करते रहे और जापान में उसका व्यापक अमल होता रहा, फिर

भी उन मुल्कों में गांधीजी की धारणा के अनुसार लोकतंत्र कायम होने की क्रांति न होकर दिन दिन तानाशाही का ही संगठन होता गया। भारत में भी करीब-करीब यही हुआ। गांधीजी के अनुयायियों द्वारा स्वावलंबी समाज-व्यवस्था के सिद्धांत का आग्रह छोड़कर विकेंद्रीकरण की बात करने के कारण जन-स्वावलंबन के आधार पर सच्चे लोकतंत्र के रूप में ग्रामराज्य कायम न होकर एक विराट् केंद्रित सत्ता के नीचे सारी प्रजा दबती जा रही है। यह सही है कि हम लोग लोककल्याणकारी राज्य (वेलफेयर स्टेट) की बात करते और सोचते हैं कि इसीसे सच्चा गणराज्य होगा। लेकिन तानाशाही सरकार भी तो लोककल्याणकारी हो सकती है, बल्कि लोक-कल्याणकारी होने के कारण ही प्रारम्भ में जनता तानाशाही को स्वीकार भी करती है। इस तरह किताबों के सूत्र में नयी क्रांति की बात ढूँढने की चेष्टा से क्रांति विपथगामी हो सकती है। उसकी मिसाल हमने अभी अभी भारतीय आंदोलन में देखी।

भूमिदान पुनर्विभाजन नहीं

उसी तरह विनोबाजी ने भूमिदान-यज्ञ आंदोलन चलाया और विद्वानों ने जब इसमें क्रांतिकारी स्वरूप को देख लिया तब वे पुरानी प्रच-लित किताबों के पन्नों को पढ़कर इसे भूमि के पुनर्विभाजन के रूप में सम-झने लगे। यह समझने की आवश्यकता है कि जैसे विकेंद्रीकरण-मात्र से गांधीजी का स्वावलम्बन नहीं होता उसी तरह भूमि के पुनर्विभाजन-मात्र से ही विनोबाजी का भूमिदान-यज्ञ नहीं होता। भूमि का वितरण तो जापान और चीन में भी हुआ है, लेकिन क्या वहाँ भूमिदान-यज्ञ के उद्देश्य के अनुसार सर्वोदय समाज यानी शासन-मुक्त तथा शोषण-रहित जनतंत्र कायम हो सका है? वहाँ तो उलटे तानाशाही का ही संगठन हुआ है। अगर भूमिदान-यज्ञ को केवल भूमि वितरण के ही रूप में देखा जाय और उसी दिशा में कार्यकर्ता आगे बढ़ें, तो क्या भारत में भी तानाशाही का खतरा नहीं आ सकता?

स्वराज्य आन्दोलन में हमारी भूल

मैंने शुरू में कहा है कि इस यज्ञ के प्रति सारे भारत की दृष्टि आकृष्ट हुई है। केवल आकृष्ट ही नहीं हुई, बल्कि सभी श्रेणियों और सभी दलों के लोग इस आंदोलन में शामिल हो रहे हैं। यज्ञ की यह एक बहुत बड़ी शक्ति है। लेकिन जैसा कि मैंने पहले भी कहा है, जहाँ वह एक शक्ति है, वहाँ यह एक खतरे का कारण भी हो सकती है। गांधीजी ने स्वराज्य का आन्दोलन चलाया। वे कहते रहे कि अंग्रेजी राज्य को हटाना स्वराज्य का पहला काम है। गांधीजी की वह पुकार उस समय जमाने की माँग के अनुसार ही थी। सब चाहते थे कि अंग्रेज हटें, चाहे अंग्रेज हटने के बाद स्वराज्य के बारे में उनकी कुछ भी धारणा या राय रही हो। अतः उस समय सभी श्रेणी के और सभी राय के लोग गांधीजी के आंदोलन में शामिल हुए। उसमें पूँजीपति आये, शुद्ध राष्ट्रवादी आये, सामन्तवादी, गांधीवादी, मार्क्सवादी, सम्प्रदायवादी—सभी आये और सबने मिलकर अंग्रेजी राज्य को हटाने का काम किया।

ढाँचा ज्यों का त्यों

अंग्रेजी राज्य हटा, लेकिन मुल्क का राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक ढाँचा ज्यों का त्यों बना रहा। गांधीजी का स्वराज्य नहीं हुआ। विदेशी राज्य की जगह पर एक स्वदेशी राज्य होकर रह गया है। ऐसा क्यों हुआ? इस पर विचार करना चाहिए, ताकि भूमिदान-यज्ञ पर के दूसरे खतरों के बारे में स्पष्ट धारणा हो सके। शुरू से ही स्वराज्य के बारे में गांधीजी की स्पष्ट धारणा थी और वे समय समय पर उसका स्पष्टीकरण भी करते रहे, लेकिन उनके भक्तों और अनुयायियों ने उनकी मूल भ्रांति पर गहराई के साथ विचार और विवेचन नहीं किया। वे सब एक रूखे झोंके से अंग्रेजों को हटाने के काम में संलग्न रहे। वे समझते रहे कि उनके जितने भी साथी हैं, सभी एक ही लक्ष्य के यात्री हैं। नतीजा यह हुआ कि उनके विचार धूमिल रह गये। यह सही है कि

गांधीजी रचनात्मक कार्यक्रम और सत्या के जरिये अपनी क्रांति की नींव डालने की चेष्टा करते रहे, लेकिन हम रचनात्मक काम करनेवाले इन कार्यक्रमों को क्रांति की बुनियाद न समझकर राजनैतिक संघर्ष के उद्देश्य से जनसम्पर्क साधने का एक सक्रिय साधन मानते रहे। हमम से कुछ उसे जनहित का कार्यक्रम-मात्र ही समझते रहे। नतीजा यह हुआ कि अंग्रेजों के जाने के बाद हमारे उन साथियों ने, जो प्रतिक्रियावादी थे तथा जिनकी नीयत और उद्देश्य अपने ढग के स्पष्ट थे, परिस्थिति पर कब्जा कर लिया और उन राष्ट्रवादी सेवकों पर, जिनकी दृष्टि धूमिल थी, हावी हो गये। हम भी, उनके द्वारा क्रांति सधेगी, यह समझकर निश्चेष्ट रहे।

फिर जब हमने देखा कि हमारे वे साथी—जिन्हें हम अपने स्वधर्मा समझते थे, लेकिन जिनके सिद्धात, धारणा तथा दृष्टि वस्तुत पृथक् थी—हमारी धारणा के अनुसार मुल्क के राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक ढाँचा म आमूल परिवर्तन न कर पुराने ढाँचे को ही सचालित कर रहे हैं, तो हम उनकी शिकायत करने लगे। लेकिन शिकायत का कोई कारण नहीं था। वह स्वाभाविक था। क्रांतिकारी जब आदोलन चलाता है और आदोलन के शुरू में जब ऐसा कार्यक्रम लेना पडता है, जिसको करने के लिए हर तबके के लोगों का आग्रह होता है, तो वह सबके साथ सयुक्त मोर्चा बनाता है। लेकिन ऐसी हालत म उसे निरन्तर जाग्रत रहना पडता है, ताकि उसकी क्रांति की धारणा धुमिल होकर वह प्रतिक्रांतिकारी शक्ति के हाथ में न चली जाय। हमने स्वराज्य के क्रांतिकारी आदोलन के समय ऐसी चौकसी नहीं रखी। इसलिए आज मुल्क पर प्रतिक्रियावादी शक्ति हावी हो गयी।

भूमिदान में सावधानी

जिस तरह गाधीजी ने स्वराज्य के बारे में स्पष्ट धारणा मुल्क के सामने रखते हुए भी, पहले देश का सारा ध्यान विदेशी राज्य हटाने पर केंद्रित करने को कहा, और ऐसा करना एक व्यावहारिक क्रांतिकारी के

लिए स्वाभाविक भी था, उसी तरह आज विनोबाजी भी अपनी आर्थिक तथा सामाजिक क्रान्ति की स्पष्ट धारणा देश के सामने रखने पर भी पहले भूमि प्राप्ति तथा भूमि वितरण के काम में सारी शक्ति केंद्रित करने के लिए 'एकहि साधे सब सधे' की बात कह रहे हैं; क्योंकि वे जानते हैं कि जब तक पहला कदम जम न जाय तब तक आगे का कदम उठाना कठिन है। और बहुमुखी कार्यक्रम चलाने से शक्ति बिखरकर क्रांति में कमजोरी आ सकती है। लेकिन आज अगर विनोबाजी की क्रांतिकारी धारणा के अनुसार भविष्य की समाज-रचना के सिद्धांत को माननेवाले कार्यकर्ता आगे का कदम तथा भावी राष्ट्र निर्माण के बारे में उसी तरह से विचार तथा विवेचन किये बिना केवल भूमि दान की ही बात सोचते रहेंगे, जिस तरह हम स्वराज्य आंदोलन के समय सोचते रहे, तो इस बार भी हम चूकेंगे और एक बार और प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ संगठित होकर हमारे

देहाती गरीबी की राहत की दृष्टि से भूमि के पुनर्विभाजन के कार्यक्रम में शामिल होंगे। जातीयतावादी तथा सम्प्रदायवादी भी भूमि वितरण के साथ हो सकते हैं। ऐसे जातीयतावादी 'शोषित-दल' आदि नामों से संगठित हो भी रहे हैं। आज जनसंघ आदि साम्प्रदायिक प्रतिक्रियावादी भी इसके साथ हैं। जनरल मैक्आर्थर कोई सर्वोदयवादी तो नहीं है, लेकिन उन्होंने भी तो जापान में भूमि का पुनर्विभाजन किया।

इस तरह जहाँ एक ओर कोई नया धर्मविचार जमाने की माँग के साथ जुड़ा न होने से वह सामान्य ऋषि-वाक्य होकर कुछ विवेकी पुरुषों का व्यक्तिगत आचारमात्र ही रह जाता है, उसमें आम जनता के शामिल न होने के कारण उस विचार में कोई शक्ति नहीं रहती, वहाँ दूसरी ओर हर किस्म के लोगों के शामिल होने के कारण क्रांति की दृष्टि धूमिल होने की संभावना रहती है। इसलिए मैंने कहा है कि जमाने की माँग के साथ एकरसता जहाँ क्रांति के लिए एक शक्ति है, वहाँ वही बात उसके लिए खतरा भी हो सकती है। अतएव जो लोग इसे क्रांतिकारी आन्दोलन के रूप में देखते हैं, उन्हें यज्ञ के मौलिक आधार के बारे में विचार करना होगा। इस विचार का प्रचार मुल्कभर में करना होगा, ताकि देश की दृष्टि साफ हो सके।

दंड-शक्ति

विनोबाजी भूमिदान आंदोलन को अहिंसक समाज-रचना का पहला कदम कहते हैं। अहिंसक समाज का मतलब है, हिंसा-रहित समाज। अतः हमें मूलतः समाज से हिंसा हटाने की बात सोचनी होगी। लेकिन हिंसा स्वतः कोई चीज नहीं है, वह शोषण-वृत्ति का नतीजा है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का शोषण करना चाहता है और अगर वह निर्विरोध शोषण करने में सफल होता है, तो वह ख्वाहमख्वाह हिंसा नहीं करता। एक मुल्क दूसरे मुल्क का शोषण करना चाहता है और निर्विरोध शोषण करने

में समर्थ होता है तो ख्वाहमख्वाह युद्ध नहीं छेड़ता। इस तरह हम देखेंगे कि साधारणतः शोषण की वृत्ति से ही हिंसा की शुरुआत होती है।

अतएव अहिंसक समाज-रचना के लिए शोषण हीन समाज-रचना की आवश्यकता है। प्रश्न यह है कि शोषण होता किस चीज का है? साधारणत. श्रम का यानी शरीर का शोषण ही शोषण माना जाता है। अर्थात् लोग यह मानते हैं कि हिंसा केवल शरीर पर होती है। लेकिन मनुष्य का केवल शरीर ही नहीं होता। उसमें आत्मा भी होती है। अतः विचार करने की आवश्यकता है कि शरीर के साथ-साथ आत्मा पर भी शोषण हो सकता है।

मनुष्य की आत्मा पर हिंसा उसकी आजादी छीनने से होती है। वस्तुतः मनुष्य की आजादी छीननेवाला सबसे बड़ा यन्त्र शासन होता है, अर्थात् शासन-यन्त्र मनुष्य की आत्मा पर हिंसा का कारण होता है; क्योंकि किसी व्यक्ति पर जिस हद तक शासन का दंड रहेगा, उस हद तक उसकी आत्मा कुंठित रहेगी। अत. अहिंसक समाज-रचना के लिए प्रथम आवश्यकता इस बात की है कि दुनिया में दंड हीन समाज यानी स्वराज्य कायम हो।

वस्तुत. दुनिया की आज की मुख्य समस्या स्वराज्य की समस्या है। साम्यवादी, फासिस्टवादी, लोकतन्त्रवादी—किसी भी नाम से पुकारा जाय, आज की दुनिया के हर मुल्क में उत्कट तानाशाही ही चल रही है। नागरिक लोकशाही का अस्तित्व कहीं नहीं दिखाई देता। जहाँ कहीं 'जनतन्त्र' का नाम है, वहाँ भी जनता की वैसी ही हालत है जैसे कि कचहरी ने अपने 'हक' की 'डिग्री' पाते हुए भी किसी किसान को अपनी ज़मीन का कब्ज़ा न मिला हो।

प्रागैतिहासिक युग में

मानव इतिहास के प्रथम युग में मानव झुंड में रहते थे। सहयोगिता के आधार पर जिन्दगी का साधन पैदा करके स्वच्छंद विचरते थे। क्रमशः

समाज में प्रतियोगिता और उसके फलस्वरूप संघर्ष पैदा हुआ। स्वच्छंद समाज के इस संघर्ष ने धीरे धीरे मानव-समाज के अस्तित्व को ही खतरे में डाल दिया। अस्तित्व कायम रखना प्रकृति की मूल-वृत्ति होने के कारण मनुष्य अपने अस्तित्व का खतरा बर्दाश्त नहीं कर सकता था। वह इस स्थिति से निकलने का उपाय सोचने लगा।

विभिन्न शक्तियों की विकास-क्रांति

पुराण की कथा के अनुसार मनुष्य आपसी संघर्ष से परेशान होकर आत्मरक्षा की नीयत से ब्रह्मा के पास पहुँचा। ब्रह्मा ने मनुष्य पर कृपा करके उन पर राज्य करने के लिए मनु को संसार में भेज दिया, जिससे वह संघर्ष की चौकीदारी कर सके। इस तरह संसार में प्रतिद्वंद्विता के बीज से राजदंड की सृष्टि हुई। संघर्षकाल के लिए एक मध्यस्थ के रूप में उन्हें अपनी जिम्मेदारी सुचारु रूप से चलाने के लिए सैनिक शक्ति की सृष्टि करनी पड़ी। सैनिक बल से पुष्टि पाकर धीरे धीरे दंडशक्ति अधिकतर संगठित और बलशाली होने लगी। नतीजा यह हुआ कि यह शक्ति क्रमशः जनशक्ति पर हावी होती गयी। जनता भी सहूलियत के मोह से अपनी व्यवस्था और संचालन के लिए उसी राजदंड पर भरोसा करने लगी। जनता की इस कमजोरी का फायदा उठाकर दंड शक्ति उस पर सिर्फ हावी ही नहीं हुई, बल्कि उसका निर्दलन भी करने लगी।

इस प्रकार एक मध्यस्थ के रूप में जन्म लेकर राजशक्ति यानी दंड-शक्ति जन-स्वतन्त्रता का निर्दलन करके संसार पर अपनी सत्ता कायम करने लगी। मनुष्य इस स्थिति से फिर परेशान हुआ। जिस शक्ति को उसने अपना रक्षक मानकर पैदा किया था, वही शक्ति उसकी भक्षक होकर उसकी आजादी भी छीनने लगी। फिर से मानव-समाज ने इस स्थिति में से अपने को निकालना चाहा और दुनिया में राजतंत्र को खत्म करके लोकतंत्र कायम करने के लिए एक महान् क्रांति की। हमने देखा कि फ्रांस में एक

विराट् विस्फोट हुआ और सारी दुनिया में वह फैल गया। दुनिया से राजतंत्र खत्म हो गया।

इस क्रांति की चेष्टा में मनुष्य ने एक महान् भूल की। उसने राजाओं को खत्म किया, लेकिन वे जिस दंड शक्ति के मालिक थे, उसकी आवश्यकता को खत्म नहीं किया। सिर्फ राजा के हाथ से उसे छीनकर पार्लियामेंट के नाम से जनता के प्रतिनिधियों की संस्था बनाकर उसके हाथ में सौंप दिया और सोचा कि अब हमारे अपने आदमी के हाथ में दंड है, इसलिए कोई खतरा नहीं। देहात में एक कहावत है, "सैंयाँ भये कोतवाल अब डर काहे का।" अर्थात् अब चैन से सोया जा सकता है। जनता भी प्रतिनिधियों को चुनकर चैन से सो गयी। किन्तु 'प्रभुता पाय काहि मद नाहीं' इस तत्त्व को वह भूल गयी। निश्चित जनता की सुव्यवस्था और संचालन के बहाने ये नये दंडधारी अपनी विशाल शक्ति को लेकर जन-जीवन के अधिक-से-अधिक हिस्से पर कब्जा करने लगे। नतीजा यह हुआ कि राजतंत्र के समय में लोकतंत्र में जनता पर दंड का दखल बढ़ता गया यानी उसकी आजादी घटती गयी। अर्थात् उसकी आत्मा अधिक कुंठित और निर्दलित होने लगी।

आर्थिक क्रांति

जिन्दा रहने के लिए अब पूर्ण रूप से कारखाने या पूँजीपति का भरोसा करना पड़ा। आर्थिक जिन्दगी पर कब्जा करने के कारण इन पूँजीपतियों ने स्वभावतः राजदंड पर भी अपना कब्जा जमा लिया। नतीजा यह हुआ कि एक ही हाथ में दंड शक्ति और उत्पादन शक्ति दोनों होने के कारण वे जनता का अधिक शोषण करने लगे। यह शोषण सिर्फ आत्मा तक ही मर्यादित न होकर शरीर का भी होने लगा, क्योंकि अपनी स्वतन्त्रता से उत्पादन न कर सकने के कारण उत्पादक श्रमिकों को अपना श्रम कारखानेदारों के हाथ में बेचने पर मजबूर होना पड़ा। श्रमिकों की मजदूरी से पूँजीपति उसका नाजायज फायदा भी उठाने लगे।

इस तरह पूँजीवादी लोकतन्त्र में जनता की हालत राजतन्त्र से भी अधिक खराब हो गयी, क्योंकि राजतन्त्र में जहाँ जनता की आत्मा ही कुंठित होती थी, वहाँ लोकतन्त्र में जनता के शरीर और आत्मा, दोनों का शोषण होने लगा, सो भी पहले से अधिक पैमाने पर। इनसे भी ऊब-कर मनुष्य ने बाद में जो क्रांति की, उससे उसकी आत्मा और अधिक कुंठित हो गयी। पहले जिस तरह राजाओं को हटाकर राजदंड को पार्लियामेंट के हाथ में डाल दिया, उसी तरह अब केवल राजदंड ही नहीं, बल्कि उत्पादन-यन्त्र भी उसीके हाथ में सौंप दिया, जिसके हाथ में राजदंड था। जब दमन तथा उत्पादन के साधन एक ही गुट के हाथ में आ गये, तब उसके लिए जनता का पूर्ण रूप से निर्दलन करना आसान हो गया। दंड का दबाव जनता पर और अधिक हो गया।

दवा से मर्ज बढ़ा

सिर पर दंड गिरता है, दंड चलानेवाला नहीं। इस भूल के कारण उसने यह समझा कि उसकी तकलीफ दंड चलानेवालों के कारण हो रही है, न कि दंड के कारण। इसीलिए उसने हमेशा चलानेवाला पर ही हमला किया और दंड का कवल सुरक्षित ही नहा रखा, बल्कि वह उसका कलेवर बढाता ही गया। गांधीजी ने मानव समाज की दृष्टि इस बुनियादी भूल की ओर आकृष्ट की। उन्होंने बताया कि मनुष्य खुद दोषी नहीं होता, पद्धति हो किसी सुख या दुख का कारण होती है। अगर दंड के आघात से तकलीफ होती है, तो दंड को न हटाकर दंड चलानेवालों को बदलने से कोई लाभ नहीं होता। अतएव अगर मनुष्य को शोषण मुक्त होना है, तो उसे दुनिया में एक दण्ड हीन यानी शासन हीन समाज कायम करना होगा।

भूमिदान-आन्दोलन के सिलसिले में इस विचार की आवश्यकता दिन दिन प्रकट होने लगा और अन्त में बोधगया में सर्वोदय-समाज का ध्येय शासन-मुक्त तथा शोषण हीन यानी श्रेणी-हीन समाज घोषित किया गया। प्रस्तुत पुस्तिका में सर्वोदय विचारधारा के अनुसार शासन-मुक्त समाज के बारे में कुछ विवेचन किया गया है। यह सामान्य विचार है और इसका अधिकाधिक विकास वाञ्छनीय है।

मैंने इस आशा से देश के शिक्षित समाज के सामने इसे पेश किया है कि वह इसे पढ़कर इस प्रश्न पर और अधिक ब्यौरेवार विचार करे। मुझे विश्वास है कि मेरी यह आशा पूरी होगी। पुस्तिका के अनुपात में प्रस्तावना कुछ अधिक विस्तृत हो गयी, किन्तु विषय के प्रतिपादन के लिए इतनी भूमिका जरूरी था।

—धीरेन्द्र मजूमदार

अनुक्रम

शासन-मुक्त समाज की अनिवार्यता : १ :

बोधगया के सर्वोदय सम्मेलन के अवसर पर अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ ने एक प्रस्ताव द्वारा यह एलान किया कि भूदान-यज्ञ-मूलक अहिंसक-क्रांति का ध्येय शासन मुक्त तथा शोषण-हीन समाज की स्थापना है। तब से देश भर से तरह-तरह के सवाल पूछे जाते हैं। उनका आशय यह है कि आखिर इस शासन मुक्त समाज का क्या रूप होगा ? यह भी पूछा जाता है कि दुनिया में यदि शासन नहीं रहेगा, तो समाज की व्यवस्था कैसे चलेगी ? क्या अव्यवस्था से उच्छृंखलता पैदा होकर वह मानव-समाज का नाश नहीं कर देगा ? हाल ही में कुछ मित्रों ने मुझसे कहा कि अब तक तो हम समझते थे कि आप लोग गांधी के भक्त हैं, पर अब ऐसा जाहिर होने लगा है कि आप प्रच्छन्न कम्युनिस्ट हैं और उनकी तरफ से टट्टी की ओट में रहकर शिकार खेल रहे हैं तथा हिन्दुस्तान में सर्वोदय और गांधी के नाम से कम्युनिस्टों के सिद्धान्त फैला रहे हैं। इसी प्रकार के और दूसरे सवाल भी लोगों के मन में उठते रहते हैं।

यह आवश्यक है कि संघ के प्रस्ताव के इस हिस्से के बारे में विचार किया जाय।

सर्वोदय-समाज का उद्देश्य

यह तो प्रत्येक व्यक्ति मानता है कि सर्वोदय समाज का उद्देश्य हिंसा मुक्ति है। गांधीजी के अनुसार अहिंसा केवल परम धर्म ही नहीं है, वह 'नित्य धर्म' भी है। वस्तुतः उनकी अहिंसा

स धर्म के लिए नित्य धर्म तक ही सीमित नहीं है, बल्कि व्यक्ति और समाज के लिए वही विशेष धर्म और आपद्धर्म भी है। अर्थात् अगर कभी समाज को किसी अन्याय के प्रतीकार में विग्रह भी करना पड़े या दुनिया में कहीं कभी धर्मयुद्ध आवश्यक हो जाय, तो वह प्रतीकार और युद्ध भी अहिंसात्मक ही होना चाहिए। उनकी राय में किसी भी हालत में समाज में हिंसा को मान्यता नहीं मिलनी चाहिए। अगर ऐसा अहिंसक समाज बनाना है, तो मानव-हृदय से हिंसा के सम्पूर्ण निराकरण की आवश्यकता है।

हिंसा-मुक्ति के लिए शासन-मुक्ति अनिवार्य

अब प्रश्न यह है कि यह हो कैसे? आज तो मनुष्य के हृदय में नित्य हिंसा उत्पन्न होती रहती है। ऐसी परिस्थिति में समाज-शिक्षा और दीक्षा के द्वारा तथा अहिंसात्मक प्रक्रिया के प्रयोग और तदनुकूल सांस्कृतिक विकास के द्वारा अहिंसात्मक मनोभावना पैदा करने की चाहे जितनी कोशिश की जाय, मानव-हृदय से हिंसा का निराकरण नहीं हो सकता। अतएव यह आवश्यक है कि जिन प्रतिष्ठानों या संस्थाओं के कारण मनुष्य के भीतर हिंसा का उद्भव हुआ करता है, उनको विघटित किया जाय। शायद आज किसी को यह विशेष रूप से समझाने की आवश्यकता नहीं है कि मनुष्य के हृदय में हिंसा का प्रकोप शासन और शोषण— इन दो प्रतिष्ठानों के कारण ही हुआ करता है। शासन का आधार दण्ड-शक्ति है। समस्त मानव-समाज की मान्यता उसे प्राप्त होने पर भी शासन की शक्ति हिंसात्मक ही होती है। हिंसा का आघात मनुष्य पर निरन्तर होता है। स्वभावतः आघात से प्रतिघात पैदा होता है। इस प्रकार शासन-संस्था के फलस्वरूप मानव-हृदय में हिंसा-प्रतिहिंसा का घात-प्रतिघात अदृश्य रूप

से सदा चलता है। इस प्रक्रिया के चलते हिंसा का निराकरण कैसे हो सकेगा ? स्पष्ट है कि यदि अहिंसक समाज की स्थापना के लिए हिंसा मुक्ति आवश्यक है, तो शासन मुक्ति भी अनिवार्य है।

सर्वोदय की क्रांति सर्जनात्मक है

अब यह प्रश्न रह जाता है कि शासन-मुक्त समाज का उद्देश्य सिद्ध होने पर क्या समाज मे उद्दण्डता और उच्छृंखलता नहीं फैलेगी ? यह प्रश्न इसलिए उठता है कि लोग समझते हैं कि समाज की परिस्थिति आज जैसी है, वैसी ही बनी रहेगी और वह शासन-मुक्त भी हो जायगा। लेकिन ऐसा हो ही नहीं सकता। सर्वोदय की क्रांति सर्जनात्मक क्रांति है। वह केवल शासन पर ही आघात नहीं करती, बल्कि शासन की आवश्यकता का ही निराकरण करती है। अहिंसक प्रक्रिया में समाज का सगठन ही इस ढग से करना होगा, जिससे शासन अनावश्यक हो जाय। पहले यूरोप के अराजकतावादी इस बात को नहीं समझते थे, इसलिए वे शासन पर प्रत्यक्ष आघात करने की बात करते थे। उसके फलस्वरूप उच्छृंखलता पैदा होना स्वाभाविक था। आज जब हम शासन-मुक्ति की बात करते है, तो लोग उन्हीं पुरानी बातों को याद कर घबरा जाते हैं।

इतिहास के तीन युग

यह घबराहट केवल 'अराजकता' शब्द के कारण नहीं, बल्कि आज के प्रचलित 'शासन-हीन' शब्द के कारण भी है। अत यह आवश्यक है कि 'शासन-हीन समाज' और 'शासन मुक्त समाज' की भिन्नता को समझ लिया जाय।

इसे समझने के लिए मानव-इतिहास के तीन युगों की कल्पना की जा सकती है

१ शासनहीनता यानी उच्छृंखलता का युग,
२. शासन-युक्त समाज का युग,
३ शासन-मुक्त यानी स्वावलम्बन का युग।

सबसे पहले शासनहीनता का युग आता है। उसमें उच्छृंखलता रहता है। उसके बाद शासन हीन समाज को व्यवस्थित करने के लिए शासन पद्धति का आविष्कार होता है और उसके संघटन का अर्थात् शासनयुक्त समाज का युग आता है।

हम जब शासन-हीन समाज की बात करते हैं तब मानव-इतिहास के आदिम युग में लौट जाने की बात करते हैं। लेकिन शासन मुक्त समाज से हम स्वतंत्र जनशक्ति का संघटन कर शासन-पद्धति की आवश्यकता को विघटित करना तथा स्वय प्रेरित स्वावलम्बी समाज का अधिष्ठान करना चाहते हैं।

इसमें स्वतंत्र जनशक्ति की प्रेरणा से एक निश्चित प्रकार के समाज के सृजन की कल्पना है, न कि जो मौजूद है उसके विघटन मात्र की। यही कारण है कि हम यह नहीं कहते हैं कि अमुक प्रकार की परिस्थिति के कारण राज्य अपने आप सूख करके मर जायगा, बल्कि हम यह कहते हैं कि जनशक्ति अपने संघटन और सक्रिय चेष्टा द्वारा शासन के नागपाश से अपने को मुक्त कर लेगी।

इतिहास के दो उदाहरणों से इस बात को अच्छी तरह समझा जा सकेगा। (१) रोमन साम्राज्य द्वारा इंग्लैण्ड पर अपने आप कब्जा छोड देना, (२) अमेरिका की जनता द्वारा अंग्रेजी कब्जे से अपने आपको मुक्त कर लेना।

शासन-मुक्त समाज का रूप

दरअसल सम्पूर्ण शासन-मुक्ति की स्थिति एक आदर्श स्थिति है। मनुष्य को उसकी प्राप्ति तभी होगी, जब वह विकास की आदर्श अवस्था को पहुँच जायगा। जाहिर है कि ऐसी स्थिति अन्तिम स्थिति होगी और अन्तिम स्थिति की प्राप्ति तो अनन्त के अन्त में ही होती है। यही कारण है कि गांधीजी कहते थे कि आदर्श स्थिति रेखागणित की परिभाषा के बिन्दु जैसी है। उसकी कल्पना की जा सकती है, लेकिन आकृति दिखाई नहीं देती। अत जो प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाला समाज होगा, उसका आधार-बिन्दु तो सम्पूर्ण शासन-मुक्ति का आदर्श होगा। फिर भी प्रत्यक्ष आकृति में उसका स्वरूप शासन-निरपेक्ष समाज का होगा। अर्थात् शासन का कुछ अवशेष तो उस समाज में रह जायगा, लेकिन मनुष्य के नित्य जीवन में उसका असर नहीं रहेगा। दैनिक समस्याओं के समाधान, नित्य आवश्यकताओं की पूर्ति तथा आन्तरिक व्यवस्था के लिए शासन की अपेक्षा नहीं रहेगी। समाज के सतुलन के लिए इतना अवशिष्ट शासन समाज के सतुलन के लिए आवश्यक भी होगा। समाज की इकाइयाँ चाहे जितनी स्वयपूर्ण क्यों न हो, उन्हें एकसूत्र में पिरोने के लिए उस महीन धागे की आवश्यकता रहेगी। अवशिष्ट शासन वह अदृश्य महीन धागा होगा, लेकिन धागे से अधिक उसका काम नहीं होगा। फूलों की वह माला सुन्दर मानी जाती है जिसमें धागा दिखाई नहीं देता। उसी तरह जिस समाज के जीवन में शासन के अस्तित्व का भान नहीं होता, वह शासन-निरपेक्ष समाज है।

ऐसे शासन-निरपेक्ष समाज की ओर कदम बढ़ाने का मार्ग

कौन-सा है, उसके लिए किस प्रकार की क्रान्ति जरूरी है, इस प्रश्न की चर्चा आगे करेंगे।

शासन-मुक्त समाज की भूमिका : २ :

पिछले लेख में अहिंसक समाज के लिए शासन-मुक्त समाज की अनिवार्यता पर चर्चा की गयी थी। वस्तुतः शासन-मुक्त या शासन-रहित समाज की कल्पना गांधीजी से पहले अराजकतावादियों के अलावा मार्क्सवादियों ने भी व्यवस्थित रूप से की थी। मार्क्स की कल्पना के अनुसार कम्युनिस्ट दल के लोग अपने दर्शन में इसका एक मूल तत्त्व के रूप में ही प्रचार करते और शासन-हीन तथा श्रेणी-हीन समाज का नारा बराबर बुलन्द करते रहते हैं। यही कारण है कि हम भी जब शासन-मुक्ति की बात करते हैं, तो बहुत से मित्रों को यह भ्रम होता है कि हम भी कहीं कम्युनिस्टों की प्रक्रिया को ही तो नहीं दुहरा रहे हैं। इसी कारण दूसरे कई लोगों को यह भी भ्रम होता है कि कम्युनिज्म से हिंसा निकाल देने से सर्वोदय हो जाता है।

उल्टी तरकीब

अतः यह आवश्यक है कि हम इस प्रश्न पर सर्वोदय के विचार को तुलनात्मक दृष्टि से समझ लें। हमने पहले ही कहा है कि समाज शासन-मुक्त तब तक नहीं हो सकता, जब तक मनुष्य को शासन की आवश्यकता रहेगी। आखिर जब तक किसी चीज की आवश्यकता रहती है, तब तक मनुष्य उस चीज से मुक्ति पाने की चेष्टा ही नहीं करता। इस बुनियादी सिद्धान्त की दृष्टि से ही कम्युनिज्म की भूमिका में दोष दिखाई देता है। वे अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए दृढ़ सत्ता हस्तगत करना अनिवार्य मानते हैं, क्योंकि उनकी राय में समाज को किसी नतीजे तक पहुँचाने के

लिए शासन की अनिवार्य आवश्यकता रहती है। इस विचार को देखने से "प्रथमग्रासे मक्षिकापातः" वाली कहावत याद आती है। अगर शासन-हीन समाज स्थापित करने की क्रान्ति के लिए प्रथम से ही शासन की अनिवार्यता महसूस होती है, तो शासन के बिना सम्पूर्ण समाज का संचालन हो जायगा, ऐसी आशा किस बुनियाद पर की जाती है? समाज की समस्याओं के समाधान के लिए अगर शासन की आवश्यकता है, तो समाज की सुनियन्त्रित व्यवस्था के लिए उसकी आवश्यक्ता और भी अधिक रहेगी। तो वस्तुतः शासनहीन समाज तभी हो सकता है, जब स्वतंत्र तथा स्वावलम्बी लोक-शक्ति सहकार के आधार पर समाज-व्यवस्था कायम करके समाज से संचालन को ही विघटित कर सके। अर्थात् संचालित समाज के स्थान पर सहकारी समाज स्थापित हो सके।

वैज्ञानिक भ्रम

कम्युनिस्ट ऐसा करने के बदले शासन-हीन समाज की स्थापना के उद्देश्य से प्रतिदिन शासन को अधिकाधिक व्यापक और दृढ़ करते जा रहे हैं। शासितों के हाथ में जब शासन रहेगा, तो उसके परिणामस्वरूप शासन का अन्त हो जायगा। कम्युनिस्ट इसे वैज्ञानिक दृष्टि मानते हैं। सम्भवतः वे इसलिए ऐसा मानते होंगे कि विज्ञान का एक सूत्र यह भी है कि 'जब किसी वस्तु का पूर्ण विकास हो जाता है, तब उसकी मृत्यु हो जाती है।' लेकिन वे भूल जाते हैं कि ऐसा वैज्ञानिक या दार्शनिक आदर्श आखिरी मंजिल होती है, जैसा कि मैंने पहले लेख में बतलाया ही है। ऐसी आदर्श अवस्था में अन्तिम स्थिति होती है, जिसे अनन्त अन्त में ही प्राप्त किया जा सकता है। अर्थात् वह रेखागणित की परिभाषा के बिन्दु के समान है।

अतएव अगर इस आशा से कि अंत में जाकर समाज शासन-शून्य हो जायगा, हम शासन को लगातार अधिक संगठित करते चलें, तो यह आशा कभी पूरी नहीं हो सकती। यह कल्पना वास्तविक नहीं होती, स्वप्नवत् ही रहती है।

युद्ध-प्रगति का चक्कर

वैसे तो बम्बई से कलकत्ता जाने के लिए कोई यह भी कह सकता है कि हम पश्चिम की ओर चलते-चलते अंत में कलकत्ता पहुँचेंगे ही। भौगोलिक वस्तुस्थिति के अनुसार इस प्रकार के चिन्तन में कोई दोष भी नहीं है, क्योंकि पृथ्वी गोल है। लेकिन कोई भी व्यावहारिक दृष्टिवाला चतुर व्यक्ति ऐसा नहीं करेगा; क्योंकि पता नहीं इस तरह किस काल के अंत में कलकत्ता पहुँचेंगे। चलने की प्रक्रिया में हर कदम के साथ वह कलकत्ते से दूर ही होता जायगा। वही हालत यहाँ भी होगी। वैसे तो पूर्णत्व-प्राप्ति का नतीजा पचतत्त्व-प्राप्ति में होता है, यह सिद्धान्त भी सही नहीं है। लेकिन उसे सही मान लें, तो भी शासन-मुक्ति के उद्देश्य से शासन-संगठन की प्रक्रिया को अपनाने पर मनुष्य प्रगति के हर कदम के साथ शासनहीनता की स्थिति से दूर ही हटता जायगा, और आदर्श अवस्था तो अन्तिम स्थिति है। इस कारण दूर हटने की यह युद्ध-प्रगति अनन्तकाल तक चलती रहेगी।

मुआफ़िक तरीका ही क्यों?

यही कारण है कि गांधीजी साध्य और साधन की एकरूपता पर इतना अधिक जोर देते थे। गहराई से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि विरोधी साधन के द्वारा साध्य की ओर प्रगति असम्भव है। इसलिए शासन-मुक्ति की प्राप्ति के लिए

शासन-निरपेक्ष स्वतंत्र जनशक्ति के संगठन द्वारा शासन की आवश्यकता का विघटन सर्वोदय की साधना रही है। यही कारण है कि विनोबाजी देश की मूल समस्या, यानी भूमि-समस्या के समाधान की चेष्टा कानून के भरोसे न करके स्वतंत्र लोक-शक्ति के भरोसे करते हैं। उनका कहना है कि उनका साधन हिंसा-शक्ति का विरोधी, दण्ड-शक्ति से भिन्न, लोक-शक्ति है।

इस सर्वोदय की क्रान्ति की प्रक्रिया से, जन-शक्ति के संगठन द्वारा शासन-संस्था का विघटन होता जाता है और उसकी प्रगति के साथ-साथ जन-स्वतंत्रता तथा शासन-हीनता की सिद्धि की ओर प्रगति होती रहती है। यह प्रगति जिस हद तक होती है; उस हद तक मानव शासन से मुक्त हो जाता है।

लोक-शक्ति का संगठन : ३ :

सर्वोदय की दृष्टि से शासन-मुक्त समाज की भूमिका क्या है, इस पर हम चर्चा कर चुके हैं। वस्तुत इस दृष्टि को स्पष्टता के साथ समझ लेने पर आज लोगों की जो बहुत-सी परेशानियाँ हैं, वे समाप्त हो जायँगी। फिर लोग हमसे यह नहीं पूछेंगे कि भूमिदान की उद्देश्य-सिद्धि के लिए हम कानून के इस्तेमाल का आग्रह क्यों नहीं करते? यहाँ पर गांधीजी के सिद्धान्त को समझ लेना चाहिए। उन्होंने हमेशा कहा है कि जिस प्रकार का साध्य होगा, साधन भी उसीके अनुरूप होना चाहिए। वस्तुत क्रान्ति के इतिहास मे साधन-शुद्धि का तत्त्व गांधीजी की एक बहुत बडी देन है। अगर साध्य शासन-निरपेक्ष या दण्ड-निरपेक्ष समाज स्थापित करना है, तो उसकी प्राप्ति के लिए जो भी साधन इस्तेमाल करना है, उसे भी शासन-निरपेक्ष या दण्ड-निरपेक्ष ही होना चाहिए। यही कारण है कि विनोबाजी सर्वोदय

की सिद्धि के लिए स्वतन्त्र लोकशक्ति के प्रयोग पर ही जोर देते हैं।

एक अवैज्ञानिक सिद्धान्त

आज के बहुत-से राजनीतिक विचारक इस बुनियादी सिद्धान्त को नहीं मानते। उनका कहना है कि इस जमाने की राज्य-संस्थाएँ इतनी अधिक शक्तिशाली और सर्वाधिकारी हो चुकी हैं कि स्वतन्त्र लोक-शक्ति का कोई भी प्रयास टिक नहीं सकता, क्योंकि ऐसे प्रयास की शुरुआत में ही उसे दबा देने की शक्ति राज्य के अन्दर रहती है। अतएव उनकी राय है कि अगर सचमुच जनतन्त्र की स्थापना करके शासन मुक्ति की ओर बढ़ना है तो पहले राज्य-तन्त्र को हस्तगत कर उसीके द्वारा उद्देश्य-सिद्धि की ओर बढ़ा जा सकता है। लेकिन क्या ऐसा हो सकता है? आखिर मानव-समाज को शासन मुक्ति की बात सूझी क्या? इसीलिए न कि जमाने ने देख लिया कि शासन की दमन शक्ति आज मानव को ही दबाकर मार रही है और अपनी इस शक्ति को कायम रखने के लिए यह तन्त्र मानव का निरन्तर शोषण करता रहता है? अर्थात् आज राज्य संस्था का स्वरूप ही निर्दलन तथा शोषण का बन गया है। ऐसे यन्त्र द्वारा शोषण तथा निर्दलन को निर्मूल कर स्वतन्त्र तथा स्वावलम्बी समाज नहीं बनाया जा सकता। जो भी मनुष्य या दल इस यन्त्र को हस्तगत करेगा, उसे उसको चलाना ही पड़ेगा। वह उसे तोड़ नहीं सकता। इसमें मनुष्य तथा यन्त्र का स्वरूप ही बाधक साबित होगा। मनुष्य के अन्दर अधिकार-प्राप्ति के बाद उसे कायम रखने की सहज प्रवृत्ति होती है और अगर संयोग से कोई महान् तपस्वी इस प्रवृत्ति पर विजय प्राप्त कर, स्थितप्रज्ञ होकर, राज्य-विघटन की चेष्टा भी करे, तो राज्य-रूपी

यत्र आत्मरक्षा की चेष्टा में उस व्यक्ति का सारा प्रयास निष्फल कर देगा। वस्तुत राज्य द्वारा राज्य का विघटन ही एक अवैज्ञानिक कल्पना है, क्योंकि वह प्रकृति के नियमों के विरुद्ध है। प्रकृति का नियम आत्मरक्षा है, आत्महत्या नहीं। इसीलिए बहुत-से मनीषी कहने लगे हैं कि राज्य-संस्था की निरन्तर चेष्टा अपने को सगठित करने की ओर रहती है। अतएव सर्वोदय की विचार-क्रान्ति को माननेवाले के लिए स्वतंत्र जन शक्ति सगठित कर तथा जनता के विचार और विवेक पर असर डालकर पुराने मूल्यों में परिवर्तन करना होगा। दरअसल अगर आज की राज्य-संस्था अत्यधिक शक्तिशाली और सर्वाधिकारी हो गयी है, तो यही सबसे बडा दलाल है कि उसका मुकाबला करने के लिए उसी शक्ति के भरोसे न रहकर स्वतन्त्र जनशक्ति सगठित कर, उसके द्वारा राज्य-शक्ति का विनाश किया जाय।

लोक-शक्ति का राज्य पर प्रभाव

यह बात दूसरी है कि ऐसे स्वतन्त्र लोक शक्ति के सगठन तथा प्रदर्शन के कारण राज्य को झुकना पडे और वह जनता के उद्देश्य के अनुकूल कानून बनाये और वे कानून जन-शक्ति के सगठन में सहायक हों। लेकिन, ऐसी परिस्थिति का मतलब यह नहीं है कि जन-शक्ति राज्य शक्ति के भरोसे सगठित हो रही है, बल्कि इसका मतलब यह है कि वह शक्ति राज्य की ताकत पर हावी होकर उसे विघटन की ओर ले जा रही है।

सर्वाधिकारी राज्य-व्यवस्थाएँ : ४ :

लोभ या शोषण-वृत्ति से हिंसा पैदा होती है। आज शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति मिलेगा जिसे इस तत्त्व को समझाने की आवश्यकता है। दार्शनिक तथा तात्त्विक आधार को छोड़ भी

द, तो समाज के नित्य-व्यवहार से इस बात की सत्यता प्रकट हो जाती है। अगर कोई व्यक्ति किसीका शोषण करना चाहता है, तो उसमें हिंसा की प्रवृत्ति ऊपर से दिखाई नहीं देती, लेकिन जैसे ही शोषण के रास्ते में बाधा पडती है वैसे ही हिंसा एकदम स्थूल रूप में प्रकट हो जाती है।

वस्तुत मनुष्य-समाज ने शासन-संस्था का आविष्कार, शोषण के कारण जिस विराट हिंसा का जन्म होता है, उसको मर्यादित करने के लिए किया था। लेकिन बाद को यही संस्था सबसे बडी शोषण-संस्था साबित हुई। आज ससार की जितनी राज्य-व्यवस्थाएँ हैं, यदि उनका विश्लेषण किया जाय, तो उपर्युक्त बात की सत्यता प्रतीत हो जायगी।

राज्य-व्यवस्थाओं की सत्यता

दुनिया में जितनी राज्य-व्यवस्थाएँ हैं, उन्हें देखने से स्पष्ट मालूम हो जायगा कि उनका स्वरूप निश्चित रूप से सर्वाधिकारी (Totalitarian) है। सर्वाधिकारी राज्य का मतलब ही है कि जनता के जीवन के हर पहलू पर राज्य का कब्जा स्थापित करना तथा समाज की हरएक समस्या का समाधान राज्य-व्यवस्था के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से करना। ऐसा करने के लिए आवश्यक है कि देश में एक बहुत विराट फौज खडी की जाय जो केवल व्यवस्था ही करती रहे और समाज में उसकी स्थिति अनुत्पादक उपभोक्ता के रूप में ही हो। समाज में जिस अनुपात में अनुत्पादक उपभोक्ताओं की वृद्धि होगी, उसी अनुपात में उत्पादक को अपने उत्पादन के उपभोग से वंचित होना पड़ेगा, अर्थात् उनका शोषण होता रहेगा।

पार्लियामेंटरीवादी राज्य-व्यवस्था

कुछ लोग यह प्रश्न कर सकते हैं कि अधिनायकवादी और

साम्यवादी राज्य-व्यवस्था के बारे मे तो यह बात समझ मे आती है, लेकिन पार्लियामेंटवादी राज्य-व्यवस्था को भी सर्वाधिकारी कैसे कहा जा सकता है ? ऊपर से देखने मे शायद ऐसा नहीं लगेगा। लेकिन गहराई से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि पार्लियामेण्टवादी राज्य भी आज सर्वाधिकारी राज्य हो गया है या तेजी से उस ओर बढ रहा है। पार्लियामेण्टरी राज्यवाद का इतिहास ही उसे सर्वाधिकार की ओर ले जा रहा है।

मनुष्य ने किन्हीं कारणा से राज्यतन्त्रों को समाप्त करना चाहा और उसने ऐसा किया भी, लेकिन उसे राजाओं के हाथ में जो काम था, उसकी, यानी समाज के सचालन के लिए एक ऊपरी एजेन्सी की आवश्यक्ता थी। उस आवश्यकता की पूर्ति मे उसने पार्लियामेण्टवाद की सृष्टि की। अर्थात् जनता ने समाज व्यवस्था का ढाचा पूर्ववत् कायम रखकर राजा के स्थान पर अपने प्रतिनिधि को नियुक्त किया। स्वभावत राजा की अपेक्षा अपने प्रतिनिधि से उसकी आशा अधिक थी। उसकी आशा यह हुई कि राजा समाज के जितने अश की देखभाल करता था, हमारा आदमी होने के कारण वह अधिक हिस्से की देखभाल किया करेगा।

अधिकार की वृत्ति

दूसरी ओर प्रतिनिधि के हाथ मे जब अधिकार आया, तो स्वभावत उसका प्रवृत्ति अपना अधिकार बढाने की ओर रही। मनुष्य का स्वाभाविक झुकाव ऐसा ही रहता है। फलत एक ओर से जनता की अपेक्षा और दूसरी ओर से प्रतिनिधि की आकाक्षा राज्य के दायरे को निरन्तर बढाती रही और आज ससार मे लोग पालियामेण्टरी लोकतन्त्र का मतलब जन कल्याणकारी राज्यवाद (Welfare Statism) ही मानने लगे।

फलस्वरूप अगर किसी देश मे कहीं कोई भूखा रहता है या कहीं कोई बेकार रहता है, तो उसके लिए राज्य ही जिम्मेदार है, ऐसा माना जाता है। अगर राज्य उस जिम्मेदारी को पूरा करने मे असमर्थ रहता है तो जनता की ओर से झडा लेकर जुलूस निकाला जाता है और साथ-साथ यह नारा लगता है कि "रोटी-रोजी दो, नहीं तो गद्दी छोड दो।" इसका क्या मतलब है ? अगर एक भी व्यक्ति के भूखा रहने के लिए राज्य जिम्मेदार है तो उस राज्य को इस नियत्रण का भी अधिकार देना पडेगा कि कोई भी व्यक्ति अपनी पाचनशक्ति से अधिक एक दाना भी न खाने पाये। अर्थात् अगर जनता के सर्वकल्याण की जिम्मेदारी राज्य को लेनी है, तो उस जिम्मेदारी को पूरी तौर से निभाने के लिए, उस देश के जीवन-सर्वस्व पर अधिकार उसे देना होगा। इसीको 'सर्वाधिकारी राज्यवाद' कहते हैं। वस्तुत लोकशाही के नाम से जितने राज्य चल रहे हैं, वे (Welfare State) नारे की आड मे सर्वाधिकारी होते जा रहे हैं।

हिंसा की उत्पत्ति

अतएव आज के शासन का स्वरूप इतना विराट् हो गया है कि उसीको खिलाने मे जनता द्वारा उत्पादन का अधिकाश भाग निकल जाता है और वह जनता दाने-दाने को मुहताज रहती है। आज लोग पूँजीपतिया द्वारा शोषण की रट लगाते हैं वे इसका खयाल नहीं करते कि यह बात पुरानी हो गयी। आज तो इग्लैंड और अमेरिका जैसे पूँजीवादी मुल्कों मे भी पूँजीपतियों के मुनाफे का नब्बे प्रतिशत तक राज्य अपने खर्च के लिए टैक्स के रूप में ले लेता है।

इस प्रकार शासन के कारण समाज का जो दमन होता है उसीसे केवल हिंसा की उत्पत्ति होती है, ऐसी बात नहीं,

बल्कि जनता की श्रम-शक्ति का शोषण भी राज्य के कारण होता है। यही कारण है कि हम हिंसा-मुक्ति के लिए शासन-मुक्ति आवश्यक मानते हैं।

लेकिन आज तो शासन इतना व्यापक हो गया है कि उसने अपनी परिधि में सारे मानव-समाज को ही घेर लिया है। ऐसी हालत में शासन-मुक्ति का काम किस छोर से शुरू किया जाय, यह प्रश्न आज एक व्यावहारिक क्रान्तिकारी के लिए मुख्य प्रश्न होता है। इस व्यावहारिक प्रश्न पर हम आगे विचार करेंगे।

वैधानिक के बदले प्रत्यक्ष लोकशाही : ५ :

किसी चीज को विघटित करने के लिए यह आवश्यक है कि जिन शक्तियों द्वारा वह विघटित होगी, उन शक्तियों की पकड़ में वह चीज आ जाय। इसलिए पहले राज्य पर जनता का प्रत्यक्ष नियंत्रण हो, यह आवश्यक है। अर्थात् शासन-संस्था के विघटन के लिए यह जरूरी है कि पहले दुनिया में जो वैधानिक लोकतंत्र चल रहा है, उसके स्थान पर प्रत्यक्ष लोकशाही की स्थापना हो।

लोकशाही के अंतर

वैधानिक लोकशाही और प्रत्यक्ष लोकशाही में क्या अंतर है, उसे समझ लेना चाहिए। इस बारे में गांधीजी ने हमें स्पष्ट सूत्र दे रखा है। बालिग-मताधिकार की बुनियाद पर चुनाव के फलस्वरूप कुछ लोगों को अधिकार प्राप्त हो जाने से वैधानिक लोकतंत्र की स्थापना हो जाती है। लेकिन गांधीजी ने हमें बताया है कि इतने मात्र से ही वास्तविक लोकतंत्र नहीं होता है। उन्होंने कहा है : "कुछ लोगों को अधिकार प्राप्त हो जाने मात्र से ही स्वराज्य नहीं होता; बल्कि अधिकार का दुरुपयोग

होने पर प्रत्येक व्यक्ति मे प्रतिकार करने की शक्ति जब आती है, तब वास्तविक स्वराज्य होता है।" अत वास्तविक लोकशाही की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि जनता का प्रत्येक व्यक्ति जरूरत होने पर अहिंसक प्रतिरोध की योग्यता और अनुकूलता प्राप्त करे। यह तभी हो सकता है, जब जनता की जान अधिकारी के चगुल से बाहर हो, क्योंकि कहावत मशहूर है—"जिसके हाथ में जान, उसके हाथ में आन।"

पूँजी और जनता

आज ससार की जनता की जान पूँजी के आश्रित हो गयी है, क्योंकि जीवन धारण के सारे उपादान केन्द्रीय पूँजीवादी अर्थ-तत्र के नीचे दब गये हैं। अत जब सारी जनता की जान पूँजी की मुट्ठी मे बन्द है, तब स्वभावत जिसके हाथ में पूँजी होगी, उसीके हाथ मे जनता की जान होगी। आज ससार मे जितने प्रकार की समाज-रचनाएँ मौजूद हैं, उनमें कहीं राज्य के हाथ में पूँजी और कहीं पूँजी के हाथ में राज्य—ऐसा सिलसिला चलता है। वस्तुत दोनो स्थितियों मे कोई अतर नहीं है, अर्थात दुनिया मे सर्वत्र स्थिति यह है कि अधिकारी के हाथ में पूँजी और पूँजी के हाथ मे जनता का प्राण।

ऐसी हालत मे अगर जनता का स्वतत्र अस्तित्व कायम करना है, तो पहले आर्थिक क्रान्ति द्वारा सामाजिक पद्धति को परिवर्तित करने की आवश्यकता है। याने, आज जो पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था चल रही है, उसको बदलकर श्रमवादी उत्पादन-पद्धति की स्थापना करनी है। इसलिए उत्पादन की प्रक्रिया तथा साधन पूँजी के हाथ से निकालकर श्रम के हाथ मे सौंपने की आवश्यकता है। यही कारण है कि गांधीजी हमेशा चरखे को अहिंसा

का प्रतीक कहते थे, क्योंकि हिंसा से मुक्ति पाने के लिए शासन-मुक्ति आवश्यक है तथा शासन-मुक्ति के लिए पूँजी से मुक्ति पाना अनिवार्य है और चरखा पूँजी-मुक्ति का साधन है।

पूँजीवाद और मार्क्सवाद

जो लोग महात्मा मार्क्स के अनुयायी हैं, उन्हें इस बात पर विचार करना चाहिए। कार्ल मार्क्स ने इस मूल तत्त्व को मानव-समाज के सामने रखा कि आज का स्वरूप उत्पादन की प्रक्रिया के स्वरूप पर निर्भर करता है और उत्पादन की प्रक्रिया उसके साधन के स्वरूप पर निर्भर करती है। लेकिन उसके अनुयायी जल्दी से कुछ कर डालने के मोह में इस मूल तत्त्व को ही भूल गये और पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में जिस प्रकार के साधन इस्तेमाल किये जाते हैं उन्हें वैसे-के-वैसे इस्तेमाल करने लगे और फल-स्वरूप उनके तरीके भी ज्यों-के-त्यों बने रहे। उन्होंने उत्पादन की प्रक्रिया तथा साधन में कोई परिवर्तन नहीं किया, परि-वर्तन केवल उत्पादन के उद्देश्य में किया। जहाँ पूँजीवादी उत्पादन का उद्देश्य मुनाफे के लिए था, वहाँ मार्क्सवादियों का उद्देश्य सामाजिक आवश्यकता के लिए हो गया। लेकिन चूँकि उत्पादन की प्रक्रिया और साधन में परिवर्तन नहीं हुआ, इसलिए समाज के स्वरूप में भी परिवर्तन नहीं हुआ। अर्थात् दोनों ही सर्वाधिकारी बन गये। एक फैसिज्म के रूप में और दूसरा कम्युनिज्म के रूप में। वास्तविक लोकतन्त्र किसी भी पद्धति में कायम नहीं हो सका। वस्तुत गांधीजी का चरखा उत्पादन की प्रक्रिया तथा साधन में आमूल परिवर्तन की दिशा में एक सक्रिय तथा रचनात्मक प्रयास था।

भूमिदान-यज्ञ का महत्त्व

विनोबाजी भी इसी कारण से भूमिदान-यज्ञ-आन्दोलन को अहिंसक क्रान्ति की बुनियाद मानते हैं, क्योंकि उत्पादन का मूल साधन भूमि है। इसलिए यदि पूँजीवाद के बदले में श्रम-वाद की स्थापना करनी हो, तो सबसे पहले भूमि को पूँजी के हाथ से निकालकर श्रम के हाथ में अर्पित करने की आवश्यकता है। फिर केन्द्रित-उद्योग-बहिष्कार तथा सम्पत्तिदान-यज्ञ द्वारा वे बाकी क्षेत्रों से भी पूँजी के निराकरण की कोशिश करेंगे।

इस प्रकार भूमिदान-यज्ञ से आरम्भ कर, आर्थिक क्रान्ति के साथ-साथ शासन विघटन की राजनैतिक क्रान्ति की ओर बढ़ना होगा। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए हमें क्रमशः निम्न प्रकार के कार्यक्रम चलाने होंगे।

यज्ञ का मूल स्रोत

भूमि-प्राप्ति, भूमि वितरण तथा उसके सिलसिले में केन्द्रित-उद्योग-बहिष्कार, साधन तथा सम्पत्तिदान-यज्ञ, ग्रामोद्योग की स्थापना, कृषि-संवर्धन आदि कार्यक्रम के लिए गाँव-गाँव में ग्रामीण जनता का संगठन खड़ा करना होगा। जिस समय देहात की जनता को यह भरोसा हो जायगा कि सरकार की अनेक जिम्मेदारियों में से कुछ जिम्मेदारी वे स्वावलम्बी नेतृत्व तथा व्यवस्था से चला सकेंगे, तब वे सत्तादान-यज्ञ का सूत्रपात करेंगे। उस समय वे इसकी सूची तैयार करेंगे कि राज्य के किन किन विभागों को वे खुद सम्हाल सकेंगे, और राज्य से अपने लिए उन विभागों का दान माँगेंगे। जिस तरह आज भूमिवान तथा सम्पत्तिवान इस यज्ञ में अपनी भूमि तथा सम्पत्ति की आहुति अर्पित कर रहे हैं, उसी तरह उस समय सत्तावान अपनी

सत्ता का अमुक हिस्सा इस यज्ञ मे अर्पित करेंगे और उस अनुपात में जनता को कर-मुक्त भी करेंगे।

इस तरह भूदान-यज्ञ मूलक, ग्रामोद्योग-प्रधान, अहिंसक क्रान्ति द्वारा, आर्थिक तथा राजनैतिक क्रान्ति के मार्ग पर शासन-मुक्त समाज की ओर निश्चित कदम बढ़ाने होंगे।

राजतंत्र का स्वरूप : ६ :

व्यावहारिक व्यक्ति कहेंगे कि शासन-मुक्ति की स्थिति तो कल्पना की चीज है। उसे तो दार्शनिक ही समझ सकते हैं। मानव-समाज को क्या कभी उसका प्रत्यक्ष स्वरूप देखने को मिलेगा?

हमने पहले ही कहा है कि हमारे लिए शासन-मुक्त समाज का व्यावहारिक रूप, शासन-निरपेक्ष-समाज है। स्वभावतः शासन-निरपेक्ष समाज के ढाँचे मे अवशिष्ट शासन का अस्तित्व रह ही जाता है। इस अवशेष का स्वरूप कैसा हो, हमें इसका विचार करना होगा।

इसके लिए मौजूदा राजतंत्र का ढाँचा उलट देना होगा। आज राजनीति का स्वरूप 'ऊर्ध्वमूलमध शाख' का है। अर्थात् प्रेरक कर्तृत्व राष्ट्रीय-केन्द्र से शुरू होता है और वह ग्राम-केन्द्र की ओर क्रमश. बढ़ता है। इसको बदलकर हमें प्रेरक कर्तृत्व, बुनियादी जनता, याने ग्राम-केन्द्र के हाथ में रखना होगा, और सहायक या पूरक व्यवस्था को क्रमश ऊपर की ओर ले जाना होगा; अर्थात् समाज-व्यवस्था संचालित न होकर सहकारी होगी। ऐसी हालत मे संविधान सभा की बैठक देहली में नहीं

होगी। उसकी बैठक गाँव-गाँव में होगी और गाँववाले निर्णय करेंगे कि व्यवस्था तथा उत्पादन की कितनी जिम्मेदारी वे गाँव की सामूहिक शक्ति से निभायेंगे। अवशिष्ट जिम्मेदारियों में से आवश्यकता के अनुसार क्रमश जिला, राज्य या केन्द्र के ऊपर भार सौंपेंगे और उनके लिए प्रतिनिधि भेजने की पद्धति निश्चित करेंगे।

इस प्रकार, ग्राम-व्यवस्था, जिला-व्यवस्था, राज्य-व्यवस्था, राष्ट्र-व्यवस्था तथा अतर्राष्ट्रीय-व्यवस्था के रूप का विकास—जीवन की बुनियाद गाँव से शुरू होकर—अखिल-विश्व-परिवार होगा। और इस वृक्ष का आकार जैसे-जैसे ऊपर की ओर बढ़ेगा, वैसे-वैसे पतला होता जायगा। और अन्त में सूक्ष्म बिंदु के रूप में अवशिष्ट रहेगा।

पद्धतियों का फर्क

यह व्यवस्था प्रतिनिधिमूलक तो होगी, लेकिन प्रतिनिधि गाँव से जिला, जिले से राज्य, राज्य से राष्ट्र और राष्ट्र से अतर्राष्ट्रीय केन्द्र को भेजे जायेंगे। चालू प्रत्यक्ष चुनाव-पद्धति माननेवालो को यह व्यवस्था अजीब मालूम होगी। उनको शायद यह अवैज्ञानिक भी मालूम हो। लेकिन गहराई से विचार करने पर स्पष्ट हो जायगा कि लोकतत्र के सिद्धान्त के अनुसार जब समाज-व्यवस्था का प्रथम प्रेरक निर्णय ग्राम-समाज के हाथ में होगा, तब उसी पर नागरिक का प्रत्यक्ष अधिकार होना चाहिए। उसी सस्था में प्रत्यक्ष-प्रतिनिधित्व होगा। उसके बाद की व्यवस्था तो ग्राम-पचायत द्वारा की गयी व्यवस्था है। इसलिए पचायत तक का प्रतिनिधित्व काफी है, क्योंकि नव-व्यवस्था में ग्राम-पचायत नागरिक के प्रति जिम्मेदार होती है। फिर जिला

सभा, पंचायत के प्रांत, राज्य-सभा, जिला-सभा के प्रति; तथा राष्ट्र-सभा, राज्य-सभा के प्रति जिम्मेदार होती है। सिद्धान्त यह है कि जो संस्था, जिसके प्रति जिम्मेदार होगी, उस संस्था में उसीका प्रतिनिधित्व होना चाहिए। आज जो प्रथा चल रही है उसमें चूँकि प्रथम प्रेरक निर्णय राष्ट्र-केन्द्र की ओर से लिया जाता है, इसलिए केन्द्र-सभा को मूल नागरिक का प्रत्यक्ष प्रतिनिधि बनना ही पड़ता है। इसलिए प्रत्यक्ष चुनाव-पद्धति अनिवार्य हो जाती है। अत. पुरानी तथा नयी पद्धति के इस मौलिक फर्क को समझ लेना चाहिए।

राजनीति और लोकनीति

इस प्रकार राजनीति विकेन्द्रित होकर जब लोकनीति में परिणत होगी; और पूँजीवादी *आर्थिक व्यवस्था के स्थान पर श्रमवादी उत्पादन-पद्धति की स्थापना हो जायगी*, तब मनुष्य-स्वभाव में से हिंसावृत्ति का निराकरण संभव हो सकेगा। हिंसा-मुक्ति तथा सांस्कृतिक विकास के साथ-साथ सहकार-वृत्ति का विकास स्वाभाविक है। जैसे सहकारी मनुष्य-समाज के लिए हर प्रश्न पर सामूहिक रूप से निर्विरोध निर्णय करना केवल संभव ही नहीं, बल्कि व्यावहारिक भी होगा, क्योंकि पूर्ण रूप से सम्मति न रहने पर भी समाज-कल्याण की दृष्टि से सहमति होना विकसित *संस्कृति का एक लक्षण है। सहकार-सिद्धि का* भी यह एक मुख्य साधन है।

यहाँ 'सम्मति' और 'सहमति'—इन दो शब्दों का अन्तर समझ लेना चाहिए। 'दो व्यक्तियों में आपस में 'सम्मति' है', तब कहा जायगा जब दोनों की राय बिल्कुल एक हो। लेकिन ऐसी भी परिस्थिति होती है जब एकमत न होने पर भी एक-दूसरे के साथ चलने की वृत्ति होती है। उस समय एक व्यक्ति

दूसरे की राय का साथ देता है। इसे 'सहमति' कहते हैं। यही कारण है कि हम 'सर्वसम्मति' से निर्णय न कहकर 'सर्वसहमति' यानी 'निर्विरोध' निर्णय कहते हैं।

अंग्रेजी में एक मुहावरा है—'एग्रीइंग टु डिफर।' यह कुछ उसी प्रकार की स्थिति है।

फलत आज पक्ष के आधार पर जो राजनीति चल रही है, वह नहीं चलेगी और इस कारण आज समाज में प्रतिद्वंद्विता-जनित जो द्वेष और हिंसा निरन्तर फैल रही है, उसका भी अन्त होगा और जो कुछ भी अवशिष्ट शासन रह जायगा, वह पक्ष-रहित होने के कारण समग्र समाज का प्रतिनिधि होगा। इसी व्यवस्था को हम व्यावहारिक शासन-मुक्त समाज कहते हैं।

पक्ष-रहित समाज का रूप

हम जब पक्ष-रहित समाज-व्यवस्था की बात कहते हैं, तो रूढ लोकतन्त्रवाद को माननेवाले मित्र उसे समझ नहीं पाते। उनका कहना है कि यह निर्विरोध निर्णय की बात करना स्वप्न-राज्य में विचरना है। यह कभी हो नहीं सकता। उनकी राय में बहुमत-पद्धति ही एकमात्र व्यावहारिक पद्धति है। लेकिन क्या यह जरूरी है कि जब एक पक्ष के लोगों का बहुमत हो जाता है, तो उसके सब सदस्य हमेशा एकमत ही रहें? जब आधे से अधिक व्यक्तियों का सर्वसम्मति हमेशा संभव है, तब पूरे लोगों में सर्व-सम्मति संभव नहीं हो सकती, ऐसा क्यों माना जाय? जिस कारण यह माना जाता है कि एक हजार व्यक्ति कभी एकमत नहीं हो सकते, उसी कारण यह भी सत्य है कि पाँच सौ एक व्यक्ति भी एकमत नहीं हो सकेंगे। वस्तुत जिस तत्त्व के आधार पर आज के लोकतन्त्रवादियों ने बहुमत के सिद्धांत का आविष्कार किया है, उसी तत्त्व के आधार पर स्थायी बहुमत असंभव है।

फलतः पक्ष पर आधारित राजनीति का दलपति की एकतांत्रिक नीति मे परिणत होना स्वाभाविक है और आज वैसा हो भी रहा है।

पार्टी ह्विप

अतएव अगर वास्तविक जनतंत्र की स्थापना करनी है, तो हमें पक्षवाद को छोड़कर जनवाद को स्वीकार करना होगा। थोड़ी देर के लिए अगर मान भी लिया जाय कि तात्कालिक परिस्थिति के कारण व्यावहारिकता के नाते बहुमतवादी निर्णय-प्रथा को विधान मे स्थान देना ही होगा, तो भी पक्ष-रहित व्यवस्था में अधिक स्वतंत्र राय के आधार मिल सकते है। विधान मे पक्ष की इजाजत न दी जाय और व्यक्ति के आधार पर चुनाव किये जायॅ तो क्या वह अव्यावहारिक होगा ? किसी सभा मे अगर सौ सदस्यों की आवश्यक्ता है, तो व्यक्तिगत चुनाव के आधार पर सौ व्यक्ति चुने जा सकते हैं। फिर वे बहुमत से अपना अध्यक्ष चुन सक्ते हैं और सभा का निर्णय प्रत्येक प्रश्न पर बहुमत से ही हो सकता है। फिर 'पार्टी-ह्विप' रूपी अधिनायक की गुञ्जाइश नहीं रहेगी।

समाज का अर्थनैतिक स्वरूप : ७ :

जिस प्रकार शासन-निरपेक्ष समाज की कल्पना में अवशिष्ट शासन का अस्तित्व निहित रह जाता है, उसी प्रकार पूॅजी निरपेक्ष उत्पादन-पद्धति में भी पूॅजी का अवशेष रह ही जाता है। अत हमें इस बात पर भी विचार करना है कि ऐसे समाज का अर्थनैतिक स्वरूप क्या होगा ?

स्वावलम्बन की शुरुआत

जिस प्रकार राजनीतिक ढाचा नीचे से ऊपर की तरफ

क्रमशः पतला होते हुए अंत में बिंदुवत् हो जायगा, उसी प्रकार अर्थनैतिक ढाँचा भी परिवार-स्वावलंबन से शुरू होकर क्रमशः विकसित होता जायगा। और अंत में पूँजी का आधार अत्यंत सूक्ष्म रूप ले लेगा। ऐसी व्यवस्था में उद्योगों की तीन श्रेणियाँ होंगी गृह-उद्योग, ग्राम-उद्योग तथा राष्ट्र-उद्योग। यह बात तो करीब-करीब गृहीत ही है कि भारत के आर्थिक जीवन की बुनियाद कृषि होगी। ऐसी हालत में गृह-उद्योग भी दो [illegible] में बाँटे जायेंगे। एक, सहायक उद्योग जो खेती से फुरसत के [illegible] में चलेगा और दूसरा, पूरे समय का पारिवारिक उद्योग।

भौतिक आवश्यकता

हम पहले कह चुके हैं कि लोकशाही की रक्षा के लिए मनुष्य की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति, स्वतंत्र रूप से गृह उद्योग के दायरे में आना चाहिए। अगर कुछ ऐसे उद्योग हों जिनकी कुछ प्रक्रियाएँ, पारिवारिक शक्ति की मर्यादा के बाहर हों, तो उन प्रक्रियाओं को ग्रामोद्योग में लिया जा सकता है। और, इसी दृष्टि से जिन उद्योगों को गाँव की सामूहिक शक्ति नहीं चला सकती और जिनकी आवश्यकता समाज के लिए अनिवार्य हो, उन्हें राष्ट्र-उद्योग के दायरे में ले जाना होगा। राष्ट्र उद्योग मुख्यतः दो प्रकार के होंगे। एक, वे जिनकी आवश्यकता अनिवार्य है, लेकिन जो गाँव की शक्ति से बाहर हैं, और दूसरे, वे जिनके लिए प्रकृति-देवी ने कच्चा माल ही केन्द्रित रूप में दिया है।

यंत्र की मर्यादा

आजकल जनता में इस बात की आम चर्चा है कि शासन मुक्त स्वावलंबी समाज में यंत्र की मर्यादा क्या होगी? उद्योगों का

उपर्युक्त स्वरूप जो लोग मान्य करते हैं, उनमें भी इस प्रश्न पर गहरा मतभेद है। इसलिए यंत्रों की मर्यादा के मूल सिद्धांत समझ लेने चाहिए।

स्पष्टतः सही दृष्टिवाले लोग यह मानते हैं कि समाज में लोकशाही की रक्षा होनी चाहिए तथा हरएक को पूरा काम मिलना चाहिए। यंत्रों की मर्यादा आँकने के लिए मुख्यतः इन दो पहलुओं पर विचार करना होगा। एक तीसरा पहलू संस्कृति का है जो इन दो पहलुओं से अधिक नहीं, तो कम महत्त्व का भी हरगिज नहीं है। यंत्रों के बारे में विचार करते समय इन तीनों पहलुओं पर खास ध्यान देने की आवश्यकता है।

जैसा कि हमने कहा है कि लोकतंत्र की रक्षा के लिए यह जरूरी है कि जनता जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं के लिए स्वतंत्र रहे, याने वह किसी केन्द्रीय व्यवस्था या अधिकार की मुहताज न रहे। अतएव जिन यंत्रों को चलाने के लिए, केन्द्रीय शक्ति की आवश्यकता होगी, वे सर्वोदय-समाज के लिए ग्राह्य नहीं होंगे। केन्द्रित उत्पादित बिजली, तेल, कोयला आदि ऐसी शक्ति के उदाहरण हैं।

ऐसे बहुत से यंत्र हो सकते हैं जिन्हें चलाने के लिए मनुष्य-शक्ति, पशु-शक्ति जैसी विकेन्द्रित शक्तियाँ काफी हैं। लेकिन जिसके चलने से समाज में बेकारी पैदा होती है, ऐसा यंत्र भी सर्वोदय-समाज में ग्राह्य नहीं होगा।

उपर्युक्त राजनैतिक तथा आर्थिक कसौटी पर ग्राह्य होने पर भी हो सकता है कि कुछ यंत्रों का उपयोग, मानवोचित तथा कौटुंबिक संस्कृति के विकास में बाधक हो। ऐसा यंत्र भी काम में लाना उचित नहीं होगा।

इस सिद्धान्त के अनुसार, कोई भी यंत्र शाश्वत रूप से

ग्राह्य या अग्राह्य नहीं कहा जा सकता। देश और काल के अनुसार फर्क हो सकता है। कोई यन्त्र राजनैतिक लोकसत्ता के संरक्षण में समर्थ होने पर भी भारत, चीन या जापान जैसे मुल्कों में बेकारी पैदा कर सकता है। लेकिन अमेरिका, रूस, आस्ट्रेलिया और कनाडा जैसे मुल्कों में हर व्यक्ति को काम देने में समर्थ भी हो सकता है। उसी तरह बिजली से संचालित यन्त्र जहाँ आज केन्द्रोत्पादित शक्ति का मुहताज है, वहाँ कुछ समय के बाद विकेन्द्रित विद्युत् शक्ति-उत्पादन-प्रथा के आविष्कार से वह स्वतन्त्र लोकसत्ता की रक्षा करने में समर्थ भी हो सकता है। भारत जैसे घनी आबादी के मुल्कों में भी आज जो यन्त्र बेकारी पैदा करता है, वही यन्त्र, कच्चे माल के उत्पादन तथा साधन की प्रक्रिया में तरक्की होने पर, हरएक मनुष्य को काम देने में सहायक हो सकता है।

अब प्रश्न यह है कि समाज में आर्थिक साधनों की व्यवस्था कैसी हो? जहाँ तक पारिवारिक उद्योगों का सवाल है, वहाँ तक सभी यह बात स्वीकार करते हैं कि साधन की व्यक्तिगत मालिकी होनी चाहिए। लेकिन आज कृषि का साधन, याने भूमि तथा ग्राम-उद्योग और राष्ट्र-उद्योगों के साधन किसके हाथ में हों, इस विषय पर काफी बहस चलती है। शासन-मुक्त तथा श्रेणी-हीन समाज की दृष्टि से भी इन प्रश्नों पर विचार करने की आवश्यकता है।

भूमि की व्यवस्था

हमने पहले ही कहा है कि शासन-मुक्त समाज का मतलब अव्यवस्थित समाज नहीं, बल्कि पूर्ण रूप से सुव्यवस्थित समाज है। जाहिर है कि ऐसा समाज संचालित न होकर सहकारी होगा। सहकारी समाज के लिए जहाँ स्वयंप्रेरित तथा पूर्ण

विकसित व्यक्ति का होना आवश्यक है, वहाँ हरएक व्यक्ति में निरन्तर अभ्यास के फलस्वरूप सहकार तथा सामाजिकता का सस्कार होना जरूरी होगा। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए भूमि की व्यवस्था निम्न प्रकार से होनी चाहिए

(१) गॉव की सारी भूमि ग्राम-समाज की मातहत हो।

(२) ग्राम-समाज उसमे से सर्वसम्मति से निर्णय किया हुआ अश सामूहिक खेती के लिए अलग रखे और बाकी पारिवारिक आवश्यकता तथा समता के अनुसार उनमे बॉट दे, ताकि वे स्वतन्त्र रूप से अपनी प्रेरक-शक्ति तथा सहज-व्यक्तित्व का विकास कर सके।

(३) सामूहिक खेती परिवारों के श्रम-दान से चलायी जायगी और उसके उत्पादन का उपयोग गॉव के सार्वजनिक सेवा-कोष के रूप मे होगा। इस प्रकार सार्वजनिक सेवा के लिए आर्थिक कर के बदले श्रम-दान ही काफी होगा और फलस्वरूप श्रम-वादी समाज की प्राण-प्रतिष्ठा होगी। साथ ही सामूहिक श्रमदान के फलस्वरूप हमेशा के लिए सहकार-वृत्ति का अभ्यास कायम रखना शक्य होगा।

(४) ग्रामवासियों के सामूहिक निर्णय के अनुसार वितरण-व्यवस्था पर समय-समय पर पुनर्विचार हो सकेगा।

उद्योगों के बारे मे अधिकाश चर्चा इस विषय पर होती है कि वे व्यक्ति के हाथ मे हो या राज्य के हाथ मे ? कुछ लोग यह भी कहते हैं कि उद्योग, व्यक्ति और सरकार, किसीके हाथ मे न होकर उनके लिए स्वतन्त्र कारपोरेशन बनाने चाहिए या उनके लिए उत्पादक श्रमिकों की सहकारी सस्था का सगठन करना चाहिए।

लेकिन शासन मुक्त समाज को अगर स्थायी बनाना है, तो उद्योगों के लिए उपर्युक्त किसी भी प्रकार की व्यवस्था नाकामयाब सिद्ध होगी। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए तो समाज की सारी उत्पादन की प्रक्रिया, तालीम के माध्यम के रूप में शिक्षण-व्यवस्था के हाथ में सौंप देनी होगी।

उत्पादन और शिक्षा : ८ :

कहा जा चुका है कि राज्य की शक्ति दंड शक्ति होती है। हम शासन को चाहे जितना विघटित करके स्वावलंबन विकसित करते रहें, व्यवहार में शासन का कुछ-न-कुछ अवशेष रह ही जायगा, जितना हिस्सा शेष रह जायगा, उसके हाथ में अवशिष्ट दण्ड-शक्ति, याने दमन के साधन भी रह जायेंगे। जिसके हाथ में दमन का साधन रहेगा, अगर उसीके हाथ में उत्पादन का साधन भी सौंपा जाय, तो निस्सन्देह उत्पादन का उपयोग दमन की सहायता के लिए हो सकेगा। फलस्वरूप शासन शक्ति पुनः संगठित होगी। इसलिए उत्पादन के साधन राज्य के हाथ में देने में श्रेय नहीं है। एक मिसाल से यह तथ्य ठीक ठीक समझ में आ जायगा। इस देश के सभी विचारशील लोग बहुत अर्से से सरकारी शासन विभाग तथा न्याय विभाग, दोनों को एक ही व्यक्ति के हाथ में रखने का विरोध करते आये हैं। वे मानते रहे कि अगर शासन विभाग के हाथ से न्याय का अधिकार हटा न लिया जाय, तो न्याय-संस्था का भी शासन की सहायता में इस्तेमाल हो सकेगा।

सहयोग का आधार

स्वतंत्र कारपोरेशन भी राज्य-द्वारा निर्मित होंगे और वे भी एक गुट में परिणत हो सकेंगे। इसके अलावा इसमें मजदूरी

करनेवाले और मजदूर लगानेवाले के रूप में दो श्रेणियों का अवशेष रह जाता है। इसलिए श्रेणी-हीन समाज के संरक्षण के हित में ऐसी व्यवस्था भी शुभ नहीं होगी। अगर उत्पादन-श्रमिकों की कोआपरेटिव (सहयोगी) संस्था बनती है, तो प्रथमतः यह व्यक्तिगत मालिकी की बुनियाद पर ही बनेगी। दूसरी बात यह होगी कि औद्योगिक उत्पादक तथा कृषक उत्पादक या कच्चे माल के उत्पादक के बीच स्वार्थ-संघर्ष के बीज भी रह जायेंगे। अतः इन साधनों के लिए किसी नयी व्यवस्था की ही खोज करनी होगी।

हमने ऊपर बतलाया है कि सहकारी समाज के लिए पूर्ण विकसित मनुष्य का होना आवश्यक है। इसके लिए प्रत्येक मनुष्य का सांस्कृतिक स्तर ऊँचा होना चाहिए। इतना ही नहीं बल्कि उसका आजीवन विकास होता रहना चाहिए। यही कारण है कि गांधीजी कहते थे—तालीम का क्षेत्र जन्म से मृत्यु तक का है, क्योंकि सांस्कृतिक विकास का शिक्षा ही एकमात्र साधन है।

ऐसी शिक्षा मनुष्य के नित्य जीवनक्रम तथा कर्म-सूची से अलग नहीं हो सकती, क्योंकि शासन को अनावश्यक बनाये रखने के लिए मनुष्य को प्रत्येक क्षेत्र में अपना सांस्कृतिक स्तर ऊँचा रखना होगा।

विकृति का निराकरण

इस तत्त्व को समझने के लिए मानव-प्रकृति का कुछ विश्लेषण करने की आवश्यकता है। गांधीजी कहते थे कि देवासुर का युद्ध हरएक मनुष्य में हमेशा चलता रहता है। अर्थात्, मानव-प्रकृति में संस्कृति तथा विकृति, दोनों का समावेश होता है। अगर शिक्षा को जीवन की कुछ अवधि तक सीमित रखा जाय

और फिर लोगों को अलग से व्यवहार चलाने के लिए छोड़ दिया जाय, तो विकृति के पुनर्विकास की गुंजाइश रह जाती है। इसलिए यह आवश्यक है कि मनुष्य की हर हरकत के साथ शिक्षा का अनुबंध हो। यही कारण है कि गांधीजी ने उत्पादन की प्रक्रिया, समाज-व्यवस्था का कार्यक्रम तथा प्रकृति को ही शिक्षा का माध्यम माना था, क्योंकि समाज के सारे कार्यक्रम इन्हीं तीन हिस्सों म बॉटे जा सकते हैं

(१) आवश्यकता की पूर्ति के लिए उत्पादन, (२) समाज की व्यवस्था तथा (३) प्राकृतिक साधनों की खोज। इन तीनों विभागों में जितने कार्यक्रम हैं, उनके ताने के साथ शिक्षा के कार्यक्रम का बाना डालकर जो समाज बनेगा, वही सच्चा, शासन-मुक्त समाज होगा, क्योंकि हर कार्यक्रम के साथ शिक्षा तथा संस्कृति की प्रक्रिया का अनुबंध होने के कारण मनुष्य के अंतर्निहित विकारों का निरन्तर परिमार्जन होता रहता है और फलस्वरूप शासन की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती।

उत्पादन और शिक्षा

अतएव जब उत्पादन की सारी प्रक्रियाओं को शिक्षा का माध्यम बनाना है, तो ग्राम-उद्योग तथा राष्ट्र-उद्योग के सभी कार्यक्रम विभिन्न स्तर की शिक्षा-संस्थाओं की जिम्मेदारी पर बनेंगे। फिर अनिवार्य केन्द्रित उद्योगों के कारण आज जितने उद्योग-नगर दिखाई देते हैं, वे सब विश्वविद्यालय के रूप में परिणत हो जायेंगे और आज जो संचालक, व्यवस्थापक, विशेषज्ञ तथा मजदूर के रूप में विभिन्न वर्ग दिखाई दे रहे हैं, उनके बदले उन केन्द्रों की सारी जनता उत्पादक श्रमिक बन जायगी। उनमें से कुछ अध्यापक और कुछ विद्यार्थी भी होंगे। अधिक वास्तविक स्थिति यह होगी कि वे सब शिक्षार्थी होंगे और उत्पादन की

प्रक्रिया के माध्यम से ज्ञान-विज्ञान भी प्राप्त करेंगे। जिनको अधिक अनुभव तथा जानकारी रहेगी, वे कम अनुभवी तथा कम जानकार शिक्षार्थियों का मार्ग-दर्शन करेंगे। उन्हींमें से कुछ अधिक प्रतिभाशाली लोग विभिन्न प्रकार के प्रयोग तथा नये ज्ञान की खोज करेंगे।

ऐसे वातावरण मे स्वभावत लोगों का बौद्धिक तथा सास्कृतिक स्तर ऊँचा रहेगा। फिर आपस मे मिलकर सारी व्यवस्था चलाना सहज हो जायगा और ऊपर से सचालन की आवश्यकता नहीं रहेगी।

शासन-मुक्त समाज कैसे बने ? : ६ :

शासन-मुक्त समाज की कल्पना के साथ मुख्य प्रश्न यह उठता है कि उसे स्थापित कैसे किया जा सकेगा। वस्तुत यह कल्पना कोई नयी कल्पना नहीं है। ईसा का पृथ्वी पर स्वर्ग-राज्य, कार्ल मार्क्स का 'शासनहीन समाज', प्रिन्स क्रोपाटकिन का 'अराजकतावाद' आदि सभी एक ही वस्तु की विभिन्न परिभाषाएँ है। एक व्यावहारिक क्रान्तिकारी के लिए जहाँ यह आवश्यक है कि वह अपने सामने सारी कल्पनाओं का स्पष्ट चित्र रखे, वहाँ यह भी जरूरी है कि वह अपनी कल्पना को मूर्तरूप देने के लिए स्पष्ट मार्ग भी बतलावे। बापूजी ने 'चरखा अहिसा का प्रतीक है', कहकर मानव-समाज के लिए उस मार्ग का दिशानिर्देश किया। आज विनोबा उस इगित को व्यावहारिक रूप दे रहे हैं। विनोबाजी ने इस नवक्रान्ति के कार्यक्रम को एक निश्चित सूत्र मे बाँध दिया है। वह सूत्र है—"भूदानमूलक ग्रामोद्योग-प्रधान अहिसक क्राति।" इस छोटे-से सूत्र म शासन-

मुक्त समाज की व्यावहारिक क्रांति के मार्ग का संपूर्ण दिशानिर्देश निहित है।

क्रांति का साधन

क्रान्ति का आद्य साधन क्रान्तिकारी का जीवन है। अतः उस जीवन का स्वरूप क्या हो, इस पर विचार सबसे पहले करने का आवश्यकता है। स्पष्ट है कि वह जीवन क्रान्तिमंत्र के अनुरूप तथा संकल्पित समाज के अनुकूल होना चाहिए। इसलिए क्रान्ति की प्रक्रिया में प्रथम आवश्यकता इस बात की है कि क्रान्तिकारी कार्यकर्ता अपने आपको शोषण-मुक्त बनाने की दिशा में योजनापूर्वक कदम उठावें। यानी श्रमिकों के शोषण का त्याग करने की दिशा में और श्रम-जीवन स्वीकार करने की दिशा में शीघ्रता से आगे बढ़ें। वे अपनी जीविका यथासंभव शरीर-श्रम से ही उपार्जित करें और पैतृक संस्कार के कारण उसमें जो कुछ कमी रह जाय, उसकी पूर्ति श्रमिकों से श्रमदान माँगकर ही करें।

लोग पूछेंगे अगर पैतृक कमी दान से ही पूरी करनी है, तो उसे श्रम-दान से ही कराने का आग्रह क्यों? आखिर श्रमिक का श्रम तो हमें अपने उपभोग के लिए लेना ही पड़ेगा, तो शोषक-वर्ग भी तो इसी प्रक्रिया से काम लेता है। वही वर्ग अपने शोषण में हिस्सा निकालकर हमारी कमी पूरी कर दे, तो उसमें आपत्ति क्यों हो?

दिल और दिमाग की एकता

इस आपत्ति का मनोवैज्ञानिक आधार है। पुरानी कहावत है, 'जिसका नमक खाना है, उसीका गुण गाना है।' यह बात यदि सही है, तो शोषण मुक्ति की क्रान्ति में हमारा शोषकों की सहायता से जीना शोषकों का शोषण कायम रखने के पक्ष में आशीर्वादस्वरूप होगा। आसक्ति प्रकृति का नियम है,

आत्महत्या नहीं। जिसके आधार पर आत्मरक्षा सभव है, उसीकी मगलाकाक्षा स्वाभाविक है। बहुत से परामर्शी साथी यह कह सकते है कि जब हम विचारपूर्वक, आत्मरक्षा के लिए, शोषक के शोषण पर निर्भर रहेंगे, तो फिर हमसे ऐसी गलती क्या होगी ? वस्तुत इस मामले मे हमें अत्यन्त सतर्क रहने की आवश्यकता है। भीष्म-द्रोण जैसे स्थितप्रज्ञ तपस्वियो के लिए जो चीज असभव साबित हुई, उसकी चेष्टा हम न करे, इसीमें श्रेय है। भीष्म, द्रोण के दिल और दिमाग में पाडवो की हिताकाक्षा थी, लेकिन उनका कर्म दुर्योधन के सरक्षण के लिए ही हुआ।

सस्था और क्राति

इस उदाहरण का मतलब यह नहीं है कि हम उनकी सहायता नहीं लेंगे जो अपने श्रम से ही गुजारा नहीं करते। वस्तुत हमारी क्राति, पद्धति परिवर्तन की क्राति है। उसमे व्यक्तियो का बहिष्कार या निषेध नहीं है। इसलिए हम व्यक्तियों को अपने साथ लेकर ही आगे बढ़ेंगे, क्योकि हम शोषण का अन्त करना चाहते हैं, शोषक का नहीं। अतएव हमे विचार तथा आयोजन-पूर्वक अनुत्पादक व्यक्तियों से सहायता लेना है। यह सहायता श्रम दान के रूप मे ही होगा। हम उनसे प्रत्यक्ष श्रम-दान तथा उनका श्रम उत्पादित सामग्री का दान मॉगेगे। इस आवाहन से उन्हें भी वर्ग-परिवर्तन की प्रक्रिया म शामिल होने का मौका मिलेगा। यदि हम शोषण पर जीनेवाले साधन-सपन्न वर्ग से जीविका की सामग्री लेंगे, तो उसमे यह क्रातिकारी तत्त्व नहीं रहेगा। क्रान्ति के वाहन के रूप मे, क्रान्तिकारी सस्था का दूसरा स्थान है। इसलिए सस्थाओं के स्वरूप पर भी विचार करने की आवश्यकता है। व्यक्ति की तरह सस्था को भी अपना निर्वाह

अपने सदस्यों के श्रम से तथा जितने क्षेत्र में वह संस्था क्रान्ति का प्रसार करती हो, उस क्षेत्र के श्रमदान से ही करना चाहिए। यही कारण है कि विनोबा अपनी क्रान्ति का आन्दोलन चलाने-वाली संस्थाओं को सूताञ्जलि से ही निर्वाह करने के लिए कहते हैं।

जिस प्रकार व्यक्ति तथा संस्था के शुद्धिकरण के साथ समाज क्रान्ति का कदम आगे बढ़ता जायगा, उसका क्रम कुछ निम्न प्रकार का हो सकता है।

संस्था से क्रान्ति नहीं

शासन-मुक्त समाज की ओर अगर सफलता के साथ कदम बढ़ाना है, तो सर्वप्रथम हमें अपनी काम करने की पद्धति में परिवर्तन करना होगा। अब तक हम संस्थानिष्ठ, याने केन्द्रवादी तरीके से काम करते रहे हैं। आज सर्व-सेवा-संघ, या भूदान-समिति के कार्यकर्ता, लोगों से अपील करते हैं, जमीन लेते हैं, और भूमि वितरण तथा उसके बाद का भी काम वे स्वयम् ही करते हैं। पिछले पचीस या तीस साल से सभी रचनात्मक संस्थाओं का कार्य इसी ढंग से चलता रहा है। अब तक ऐसा करना जरूरी भी था, क्योंकि लोकमानस में इस क्रान्ति की आवश्यकता का बोध नहीं था। लेकिन अब हमें जनता के अपने प्रत्यक्ष नेतृत्व तथा उसकी व्यवस्था शक्ति के आधार पर ही काम की प्रगति करनी है, नहीं तो शासन-मुक्ति के लिए अवश्य जन-शक्ति का निर्माण नहीं हो सकता।

इस प्रक्रिया के लिए आवश्यक यह है कि हम गाँव-गाँव में 'सर्वोदयी क्रान्ति' का विचार फैलावें और उसके अमल के लिए ग्राम-समितियों का संगठन करें। भूमि-प्राप्ति, वितरण, श्रम-दान-दल, कृषि-सुधार, केन्द्रित उद्योगों का बहिष्कार तथा ग्रामोद्योगों

का संगठन आदि सभी कार्यक्रम समिति की प्रेरणा से ही चलने चाहिए। संस्था के कार्यकर्ता केवल मार्ग-प्रदर्शक का काम करें। हो सकता है किसी उत्साही गाँव मे योग्य नेतृत्व न हो। तो जिस योग्यता के आदमी उस गाँव मे मिले, उन्हींकी समिति बननी चाहिए तथा उन्हींकी मार्फत सारा काम हो, ऐसा आग्रह रखना चाहिए। फर्क इतना ही होगा कि ऐसे गाँव मे कार्यकर्ता अपना अधिक समय मार्ग-दर्शन के लिए दें तथा समुचित शिक्षण द्वारा गाँववालो में योग्यता का विकास करें।

स्वतन्त्र लोक-शक्ति

इस तरह भूमि-प्राप्ति आदि कार्यक्रम के माध्यम से स्वतंत्र लोक-शक्ति के विकास के लिए ग्राम समाज के सगठन की चेष्टा की जाय। जब आर्थिक संगठन के सिलसिले मे काफी बड़े-बड़े क्षेत्रो मे ऐसी जन-शक्ति का निर्माण होगा, तब निम्नलिखित योजना के साथ शासन-विघटन की प्रक्रिया शुरू हो सकेगी। उस समय ग्राम-समितियों का यह आपसी सगठन, शासन द्वारा संचालित ग्राम-व्यवस्था के मदो की सूची तैयार करेगा और यह निर्णय करेगा कि उनमे से कितने विभागो का काम वह अपनी स्वतंत्र शक्ति से चला सकता है। उसे यह आत्मविश्वास हो जाने पर कि वह अमुक विभाग अपने आप सम्हाल सकता है, वह सरकार से उन विभागो का अपने लिए दान माँगेगा। ग्राम समाज के लोग सरकार से कहेंगे कि इतने विभागो की व्यवस्था आप हमे सौंप दे और उन विभागो के खर्च के अनुपात मे हमसे कर लेना भी बंद कर दे।

इस तरह भूमिदान-यज्ञ से शुरू कर क्रमशः सत्ता-दान-यज्ञ आन्दोलन पर पहुँचना होगा।

उपर्युक्त परिवर्तन करने के लिए हमें अपनी संस्थाओं के

रूप में परिवर्तन करना चाहिए। आज की दफ्तर-प्रथा की जगह आश्रम-प्रथा स्थापित करनी होगी। अखिल भारतीय दफ्तर तथा प्रांतीय दफ्तरों से लेकर छोटे-छोटे क्षेत्रों के दफ्तरों तक, सभी आश्रम का रूप ले लेंगे। इनमें कुछ जमीन कृषि के लिए होगी तथा फुरसत के समय उत्पादक श्रम के लिए कुछ ग्रामोद्योगों की भी योजना रहेगी।

उत्पादक श्रम का स्थान

सामान्यतः समाज के हर व्यक्ति को उत्पादक श्रम से ही अपना गुजारा करना होगा और कुछ व्यवस्था, शिक्षा आदि उत्पादक शुद्ध मानसिक श्रम का समाज को सेवा के रूप में दान देना होगा। लेकिन आज की परिस्थिति में संस्थाओं के सेवक उस मंजिल तक नहीं पहुंच सकेंगे। उन्हें व्यवस्था आदि का काम विशेष मात्रा में करना होगा। इसलिए काम के समय का आधा हिस्सा उत्पादक प्रवृत्ति तथा आधा हिस्सा व्यवस्था आदि कार्य में लगाना होगा। जितने समय के लिए उत्पादक परिश्रम करेंगे उतने में जिस अनुपात से उत्पादन होगा, उसी हिसाब से, व्यवस्था-कार्य के लिए समाज से 'दान' लेकर काम चलाना होगा। साथ-साथ इस दान की कोशिश करनी होगी कि यह दान भी श्रमदान या अन्यत्र श्रमोत्पादित सामग्री का दान हो।

लेकिन पूर्व संस्कार के कारण आज हम सेवकों की इस हद तक बढ़ने की तैयारी नहीं है। हम चाहे जितनी कोशिश करें, हम जीवन में पूर्ण उत्पादक श्रमिक के रूप में हम अपना परिवर्तन शायद ही कर सकेंगे। अतः जितना हम अपने श्रम से उत्पादन करेंगे, उसके अनुपात से भी अधिक सामग्री अपने गुजारे के लिए समाज से दान के रूप में लेकर हमें समझौता करना पड़ेगा। लेकिन इसे हम अपनी कमाई न मानकर

सहायता' मानेंगे और एक ओर से उत्पादन शक्ति में वृद्धि तथा दूसरी ओर से अपना खर्च कम करते हुए इस सहायता की रकम घटाने की निरन्तर कोशिश करते रहेंगे।

सेवक क्या करेगा ?

इस प्रकार संस्था के सेवक को संस्था के दायरे से बाहर निकालकर प्रत्यक्ष जनशक्ति के आधार पर आन्दोलन का संघटन करना होगा। लेकिन उसके साथ साथ उसे इस बात का भी ध्यान रखना होगा कि अहिंसक समाज में संस्थाओं का स्वरूप भी आज जैसा नहीं रहेगा। इसलिए आन्दोलन को केवल संस्था का आधार छुडाना होगा, ऐसा बात नहीं है, बल्कि संस्था के रूप में आमूल परिवर्तन के लिए सक्रिय कदम उठाना होगा।

शासन मुक्त या शासन निरपेक्ष समाज मे शासन का अवशेष रहेगा ही, लेकिन जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उसकी शक्ति गौण होगी और जनशक्ति मुख्य होगी। लेकिन जनशक्ति सचेतन तभी हो सकती है, जब उसे निरन्तर सक्रिय नेतृत्व मिलता रहे, इसलिए शासन निरपेक्ष समाज के लिए यानी वास्तविक लोकशाही के लिए समाज में तीन संस्थाओं की आवश्यकता होगी

(१) जननायक,

(२) जनशक्ति या जनमत और

(३) जन प्रतिनिधि।

जननायक संस्था जनशक्ति का निर्माण करेगी और यह शक्ति जन प्रतिनिधि को निर्देश देगी।

इस प्रकार अहिंसक समाज मे सबसे शक्तिशाली संस्था सेवक-संस्था होगी। ऐसी सेवक संस्था का स्वरूप क्या हो, यह प्रश्न लोकनीति मे उसी प्रकार सबसे अधिक महत्त्व का है, जिस

प्रकार राज्य-सस्था का स्वरूप निर्णय राजनीति मे सबसे अधिक महत्त्व का होता है।

इसी प्रश्न का विवेचन करते हुए सत विनोबा ने पुरी के ऐतिहासिक सर्वोदय-सम्मेलन मे ससार के समक्ष घोषणा की कि 'अहिंसक समाज मे सेवा सार्वभौम और सत्ता सेविका होगी।' लेकिन सार्वभौम सेवा की सस्था अगर आज के स्वरूप मे रह जाय तो क्या वह सेवा की ही सस्था के रूप मे कायम रह सकेगी ?

सेवक और सस्था

आज सेवक-सस्थाएँ भी उसी प्रकार से सचालित और अनुशासित हैं जिस प्रकार से राज्य-सस्थाएँ हैं। ऐसी स्थिति मे अगर आज की सेवक-सस्था राज्य-सस्था से इतना अधिक शक्तिशाली हो जाय कि वह राज्य का भी नियत्रण करने लगे तो ऐसी सस्था राज्य के ही स्थान पर आरूढ हो जायगी। कारण, सस्था को जब सचालन-कार्य ही करना है तो वह कार्य राज्य की मार्फत न करके खुद ही करने लगेगा। अत अहिंसक समाज में जिस शक्तिशाली सेवक-सस्था की कल्पना की गयी है, उसका स्वरूप भी कुछ और होगा।

ऐसी सेवक-सस्था मे सेवक सार्वभौम और सस्था सेविका होगी। जनसेवक स्वतत्र जननायक के रूप मे जनता मे विलीन होकर रहेंगे और जनशक्ति का निरन्तर आवाहन करते रहेंगे। जनकल्याण के यज्ञ मे उनका पौरोहित्य होगा, लेकिन स्वतत्र रहते हुए भी वे निष्क्रिय नहीं रहेंगे। वे सेवक-सस्था बनायेंगे अवश्य, लेकिन रेशम के कीड़े की तरह अपना बनाया हुई सस्था के अन्तर्गत नहीं रहेंगे। जिस प्रकार मकड़ा अपने बनाये हुए जाले के ऊपर रहता है, उसी तरह वे ऐसे अपने ध्येय की पूर्ति के

लिए इस्तेमाल करेंगे। आज जनता सीधे संस्था की पोषक होती है, और संस्था सेवक की। उस समय जनता सीधे सेवक को पोषण देगी और सेवक संस्था को। जनता द्वारा यह पोषण भी सेवक के श्रम के विनिमय के रूप में होगा, न कि उसकी परवरिश के रूप में। इसके रूप की चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं।

अतएव इस क्रान्ति के सेवक केवल आन्दोलन को ही संस्था-मुक्त नहीं करेंगे, बल्कि खुद भी अपने को तन्त्र-मुक्त कर जनशक्ति के आधार पर भरोसा करके उसमें विलीन होने की चेष्टा करेंगे। हमारे सेवक ज्यों-ज्यों इस ओर बढ़ेंगे त्यों त्यों वे शासन-मुक्त समाज की ओर आन्दोलन की प्रगति कर सकेंगे।

वर्ग-विषमता की समस्या : १० :

यह स्पष्ट है कि शासन-मुक्त समाज का स्वरूप संचालित न होकर सहकारी होगा। सहकार समान स्तर के लोगों के बीच ही हो सकता है। जब तक विषमता रहेगी, तब तक सहकार नहीं हो सकेगा। इसलिए यह आवश्यक है कि शासन-मुक्त समाज में वर्ग-विषमता न हो। लेकिन जिस तरह राजनैतिक क्षेत्र में सर्वाधिकारी राज्यवाद (Totalitarianism) की समस्या आज का मुख्य सवाल है, उसी तरह सामाजिक क्षेत्र में वर्ग-विषमता के संकट ने आज सबसे ऊपर का स्थान ले लिया है। समाज आज दो निश्चित तथा विरोधी वर्ग में विभाजित हो गया है। एक वर्ग उत्पादन करता रहता है और दूसरा व्यवस्था के बहाने उत्पादित सामग्री का उपभोग करता रहता है। साधारण भाषा में कहना होगा कि एक मेहनत करके खाता है और

दूसरा दलाली करके, और हम अक्सर एक को 'मजदूर' और दूसरे को 'हुजूर' कहते हैं।

शोषण के प्रकार

वर्ग-विषमता की यह सामाजिक समस्या कोई स्वतंत्र समस्या नहीं है। यह राजनैतिक तथा आर्थिक केन्द्रीकरण का नतीजा-मात्र है। इस बात को विशेष रूप से समझना चाहिए। आखिर हुजूर लोग मजदूरों का शोषण किस तरह करते हैं? इस पर से बचपन में पढ़ी हुई बिल्ली और बंदर की एक छोटी-सी कहानी याद आती है। दो बिल्लियाँ मेहनत करके रोटियाँ लायी थीं और बंदर उस रोटी का माकूल बटवारा करने के बहाने उसे खा गया। उसी तरह मजदूर रोटी का उत्पादन करता है और हुजूर लोग इन्तजाम करने के बहाने वह रोटी खा जाते हैं। मजदूर केवल पेट पर हाथ रखकर ताकते रहते हैं।

यही कारण है कि आज संसार में चारों ओर से वर्गहीन

झुंड में रहते थे। इसी कारण हमारी किताबों में लिखा है कि सत्य-युग में एक ही वर्ण था। बाद को जब समाज में प्रतियोगिता का आविर्भाव हुआ तथा आपसी संघर्ष के नतीजे से हिंसा होने लगी, तब मनुष्य ने राजा की सृष्टि की, यानी राज्य के रूप में एक ऐसी संस्था की सृष्टि की जिसमें कुछ लोग बिना उत्पादन किये व्यवस्था करके अपना गुजारा कर सकते थे। इस तरह राज्य-पद्धति के आविष्कार से हुजूर-वर्ग की सृष्टि हुई। जैसे-जैसे राज्य-प्रथा केन्द्रित और विस्तृत होती गयी, वैसे-वैसे उसीके सहारे हुजूर-वर्ग का विस्तार हुआ। उसी तरह मनुष्य ने श्रम टालने के लिए पूँजी के आधार पर जिस उत्पादन-पद्धति का आविष्कार किया, उसी पद्धति के अनुसार उद्योग-धंधों के संचालन तथा उत्पादित सामग्री के वितरण के बहाने एक दूसरी जाति के हुजूरों की विराट् फौज खड़ी हो गयी। दोनों मिलकर मजदूर पर इतना अधिक बोझ हो गया कि आज मजदूर उसके नीचे दबकर मरना चाहता है।

हुजूर बनाने के कारखाने

सिर्फ इतना ही नहीं, मौजूदा शिक्षा-पद्धति की खराबी के कारण शिक्षित समाज के लोगों में किसी प्रकार के उत्पादन का काम न कर सकने के कारण उनमें से जो लोग व्यवस्था तथा वितरण-कार्य नहीं करते हैं, वे भी किसी-न-किसी तरीके से मजदूरों के कंधों पर बैठे रहते हैं। वस्तुत आज के स्कूल और कालेज हुजूर बनाने के कारखाने-मात्र बने हुए हैं। अतएव जैसे-जैसे इस कारखाने से लोग निकलते जाते हैं, वैसे-वैसे मजदूरों के कन्धों पर बोझ बढ़ाते जाते हैं। इस प्रकार राजनैतिक तथा आर्थिक केन्द्रीकरण के अलावा वर्तमान शिक्षा-पद्धति यह विषमता तेजी से बढ़ा रही है।

फलतः राजनैतिक तथा आर्थिक केन्द्रीकरण के नतीजे से आज मजदूरों के कन्धों पर हुजूरों के बोझ की वृद्धि के कारण केवल मजदूर ही दबकर मर रहा है, ऐसी बात नहीं है; बल्कि संख्याधिक्य होने के कारण हुजूर लोगों को भी मजदूरों के शरीर से इतना रस नहीं मिल रहा है, जिससे वे मोटे-ताजे रह सकें, इसलिए वे भी सूखकर मर रहे हैं। इस प्रकार आज दोनों के सामने संकट खड़ा है यानी सारा संसार ही वर्ग-विषमता की आग से भस्म होना चाहता है। ऐसी हालत में आवश्यकता इस बात की है कि तत्काल और तुरंत एक महान् क्रान्ति के द्वारा पूर्ण रूप से एक वर्गीय समाज कायम हो, अर्थात् हुजूर-वर्ग के विघटन से मजदूरों का ही एक अद्वैतवादी समाज कायम हो।

क्रान्ति की दो प्रक्रियाएँ

प्रश्न रह जाता है कि इस क्रान्ति की प्रक्रिया क्या हो? दो ही तरीके हो सकते हैं, एक वर्ग-संघर्ष का हिंसात्मक तरीका, दूसरा वर्ग-परिवर्तन की अहिंसात्मक क्रान्ति। एक विनाशकारी तरीका, दूसरा क्रान्तिकारी तरीका। पहले तरीके से मजदूर द्वारा हुजूरों के उन्मूलन की चेष्टा होगी और दूसरे तरीके से हुजूर मजदूर बनकर मजदूरों में विलीन होंगे। पहले तरीके की दूसरे मुल्कों में काफी आजमाइश हो चुकी है और हमने देखा कि उसका कोई नतीजा नहीं निकलता है, बल्कि एक समस्या से निकलकर दूसरी उससे जटिल समस्या के नीचे समाज पड़ जाता है। रूस में उन्मूलन की चेष्टा हमने देखी। वहाँ हुजूर-वर्ग खत्म नहीं हुआ। उनकी केवल चोटी ही कट गयी। सारा शरीर ज्यों-का-त्यों रह गया। पूँजीपतियों का नाश हुआ सही, लेकिन वहाँ इतना जबरदस्त एक व्यवस्थापक राज्य कायम हुआ कि इस व्यवस्था के नाम पर ही हुजूर-वर्ग का इतना अधिक सगठन

हुआ कि मजदूर पूर्ण रूप से उसके नीचे दब गया। पूँजीपति-रूपी चोटी रहने पर जनता कभी-कभी उसे पकड़ भी सकती थी, लेकिन अब तो उससे भी हाथ धो बैठी और एक भयंकर संगठित दल की मुट्ठी के नीचे चली गयी।

उन्मूलन की प्रक्रिया

उन्मूलन की प्रक्रिया हिंसा की प्रक्रिया है। इसलिए इस तरीके से केवल ऊपर लिखे मुताबिक तात्कालिक और व्यावहारिक संकट ही आयगा, ऐसी बात नहीं। मानव-समाज में एक स्थायी संकट कायम हो जायगा। आखिर हम वर्ग-विषमता क्यों दूर करना चाहते हैं? इसलिए कि हम हिंसा से मुक्त होकर दुनिया में शान्ति कायम कर सकें। हिंसा को माननेवाले कहते हैं कि वे भी दुनिया में हिंसा खत्म करके शान्ति कायम करना चाहते हैं। परन्तु वे कहते हैं, काँटा निकालने के लिए काँटा ही चाहिए, मालिश से वह नहीं निकलेगा। यानी हिंसा से ही हिंसा का अन्त होगा, प्रेम से नहीं। लेकिन प्रश्न यह है कि क्या हिंसा से हिंसा का अन्त होगा? जो लोग इस प्रकार सोचते हैं, वे विज्ञान को भूल जाते हैं। विज्ञान का कहना है कि हरएक क्रिया की समान प्रतिक्रिया होती है और इस क्रिया-प्रतिक्रिया का घात-प्रतिघात अनन्तकाल तक चलता है। अतः अगर हिंसा की क्रिया होगी तो उसकी प्रतिक्रिया प्रतिहिंसा ही होगी और हिंसा-प्रतिहिंसा का घात-प्रतिघात अनन्तकाल तक चलता रहेगा। फिर किस काल में जाकर हिंसा समाप्त होकर शान्ति की स्थापना होगी।

इसलिए गांधीजी हमसे वर्ग-परिवर्तन की अहिंसक क्रान्ति करने का आवाहन करते रहे हैं।

वे हुजूर वर्ग को सामाजिक उत्पादन में शामिल होकर उत्पादक-वर्ग में विलीन होने के लिए कहते थे और इसका सक्रिय कार्यक्रम देश के सामने रखते थे। सन् १६४४ में जेल से निकलते ही उन्होंने कहा कि अंग्रेज तो जा रहे हैं और शायद हम जैसा समझते हैं, उससे जल्दी ही जायेंगे। अब हमें शोषण-हीन समाज कायम करने के लिए सक्रिय कदम उठाना है। इसके अमल के लिए उन्होंने कहा कि जो लोग खादी पहनना चाहते हैं, उन्हें दो पैसे प्रति रुपये का सूत कातना ही होगा। उसी तरह उन्होंने कहा कि जो लोग खाना खाना चाहते हैं, उन्हें अपने हाथ से अन्न-उत्पादन करना ही है। इन बातों पर वे यहाँ तक जोर देते थे कि कलकत्ते के लोगों के यह कहने पर कि उनके पास जमीन कहाँ, जहाँ वे अन्न-उत्पादन कर सकते हैं, उन्होंने कहा कि गमले में ही सही, लेकिन नियमित रूप से अन्न-उत्पादन की प्रक्रिया हरएक को अपने हाथ से करनी ही है।

यह स्पष्ट है कि गांधीजी जैसे व्यावहारिक क्रान्तिकारी व्यक्ति यह नहीं समझते थे कि दो पैसे के सूत कातने-मात्र से या गमले में अन्न-उत्पादन करने से देश के अन्न-वस्त्र की समस्या हल हो जायगी या उतने ही से हुजूर-वर्ग के लोग मजदूर बन जायेंगे, लेकिन क्रान्ति तो पहले विचार-क्षेत्र में ही होती है। गांधीजी सामान्य व्यापक उत्पादन से पहले लोगों के दिमाग में क्रान्ति लाना चाहते थे ताकि वे निरन्तर अपने हाथ से उत्पादन करने के महत्त्व को समझें और थोड़ा-सा उत्पादन करके उत्पादक-वर्ग में सम्मिलित होने की क्रान्ति में शामिल हैं, यह बात जाहिर करें यानी गांधीजी के इस आन्दोलन के रजिस्टर में नाम लिखा लें।

शिक्षा-पद्धति में क्रान्ति

इसी प्रकार वर्ग-परिवर्तन की क्रान्ति की दिशा में दूसरे कद-

हल्के सक्रिय कार्यक्रम रखते थे। वे बाबू वर्ग के लोगों को अपने व्यक्तिगत काम के लिए घरेलू नौकर से काम न लेने की बात कहते थे। अपने आदर्श के अनुसार संचालित आश्रमों में पाखाना-सफाई से लेकर खाना बनाने तक सभी काम अपने हाथ से करने की विधि रखकर श्रम-प्रतिष्ठा पर जोर देते थे। अन्त में उन्होंने वर्ग-परिवर्तन का एक महान् क्रान्तिकारी तथा व्यावहारिक कार्यक्रम दुनिया के सामने रखा, वह था शिक्षा-पद्धति में आमूल परिवर्तन। उन्होंने कहा कि शिक्षा के लिए वर्तमान हुजूर बनाने के कारखानों को बंद कर दिया जाय और सारी शिक्षा-योजना शरीर-श्रम द्वारा उत्पादन की प्रक्रिया के माध्यम से ही बनायी जाय। ऐसा करने से मजदूर वर्ग के लोगों को शिक्षित करने में उन्हें मजदूरी के कार्य से उखाड़ने की आवश्यकता नहीं होती है और मजदूर रहते हुए वे शिक्षित हो जाते हैं। बाबू लोगों के लड़के भी बचपन से ही उत्पादन-कार्य में अभ्यासी होने के कारण समर्थ उत्पादक बन जाते हैं। इस तरह नयी तालीम के द्वारा देश में शिक्षित तथा वैज्ञानिक मजदूरों का एक-वर्गीय समाज कायम हो जाता है।

समग्र ग्राम-सेवा का कार्य

गांधीजी उपर्युक्त मनोविज्ञान तथा शैक्षणिक कार्यक्रम मात्र से ही संतुष्ट नहीं थे। यह सही है कि अहिंसा में इन प्रक्रियाओं का सबसे अधिक महत्त्व है, लेकिन साथ ही अगर समाज-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन किया न जाय, तो प्रतिकूल परिस्थिति में मनोवैज्ञानिक तथा शैक्षणिक कार्यक्रम भी विफल हो सकता है। इसलिए वे देश को एक महान् सामाजिक क्रान्ति के लिए तैयार करना चाहते थे। इस दिशा में उन्होंने मुल्क के सामने समग्र ग्राम-सेवा द्वारा जन-स्वावलंबन का कार्यक्रम

रखा। जहाँ वे हुजूरों के विवेक पर असर कर उन्हें मजूर बनने की प्रेरणा देते थे, वहीं वे देहाती उत्पादक-वर्ग के लोगों में इस बात की चेतना पैदा करना चाहते थे कि वे हुजूरों की उन सेवाओं को इनकार करने की शक्ति सगठित करें, जिनके बहाने हुजूर लोग उनका शोषण करते रहे हैं, अर्थात् बन्दर और बिल्ली की कहानी की भूमिका में अगर कहा जाय तो जहाँ वे बन्दरों को अपने आप रोटी पैदा करके गुजर कर शोषण छोड़ देने की बात कहते थे, वहाँ बिल्लियों को अपने आप रोटी बाँटकर खाने का संदेश सुनाते थे, ताकि उन्हें किसी दूसरे के पास रोटी बटवाने की सेवा लेने के लिए न जाना पड़े।

उन्होंने इस आन्दोलन के लिए सबसे पहले नेतृत्व की तब्दीली की बात की। आज जितने भी आन्दोलन चल रहे हैं उनके नेतृत्व बाबू वर्ग के लोगों के ही हाथ में हैं, हालाँकि जिस प्रकार मैंने पहले भी कहा है, वे हितैषी बाबू लोग हैं। लेकिन वर्ग-हीन समाज कायम करने का नेतृत्व अगर ऐसे लोगों के हाथ में रहे, जिनमें उत्पादन करके अपना गुजारा करने की शक्ति नहीं है, तो आन्दोलन के सफल होने पर यह नेतृत्व बिना पैदा करके खाने का कोई-न-कोई जरिया ढूँढ लेगा, यानी वे स्वावलम्बी समाज की बात न सोचकर सचालित समाज की ही बात करेंगे, क्योंकि ऐसे समाज में सचालक का काम करने के लिए उनकी आवश्यकता होगी अर्थात् नेतृत्व अगर जिनके हाथ में आज है उन्हीं पर रह गया तो आन्दोलन को धोखा होने की पूर्ण सभावना रहती है। इसलिए गांधीजी ने पहला नारा यह लगाया कि हमें इस समाज-क्रान्ति के लिए सात लाख नौजवान चाहिए, जो सात लाख गाँवों में जाकर वर्ग-परिवर्तन कर उत्पादक श्रम द्वारा अपना गुजारा करें और समग्र ग्राम-सेवा से प्रत्येक देहात

को स्वयंपूर्ण बनावें। यही कारण है कि आज विनोबा गांधी-मंत्र के आधार पर जो क्रान्ति चला रहे हैं, उसके सेवकों को गाँव-गाँव में सक्रिय रूप से उत्पादक श्रम करते हुए क्रान्ति का प्रचार करने को कहते हैं और क्रान्तिकारी संस्थाओं को श्रमदान के आधार पर ही अपना संघटन चलाने को कहते हैं।

हुजूर मजूर बनें

गांधीजी ने यह स्पष्ट रूप से देख लिया था कि आज मजदूर-वर्ग बेहोश है। अतः उनका नेतृत्व किसी बाहोश व्यक्ति को ही करना होगा। ऐसा होश हुजूर-वर्ग के लोगों में ही है, अत उन्हींको मजदूर बनकर नेतृत्व तब्दीली का उद्देश्य सिद्ध करना होगा। मजदूर से तो कहना होगा कि तुम अपना काम अपने-आप चलाओ और दूसरे द्वारा अपने को शोषित न होने दो, पर ऐसी बात कहे कौन? क्या हम कहनेवाले उनसे यह बात कहें कि हम तुम्हें रास्ता बताने की सेवा देते हैं, अत हमारी सेवा तो ले लो और उसके एवज में हमको बिना पैदा करके खाने दो लेकिन दूसरे की ऐसी सेवा लेने से इनकार करो जिससे वे बिना पैदा करके तुम्हारे श्रम से उत्पादित सामग्री का उपभोग न कर सकें, क्या ऐसा कहना सुसगत होगा? इस प्रकार विश्लेषण कर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्गहीन समाज की क्रान्ति के नेतृत्व के लिए सबसे पहले देश के हुजूर-वर्ग के नौजवानों को मजदूर बनकर मजदूरों में विलीन होना होगा और शोषण की प्रक्रिया से असहयोग करने का आन्दोलन चलाना होगा, वरना वर्गहीन समाज की बात कोरे आदर्श के रूप में रह जायगी।

इस तरह गाधीजी ने सात लाख नौजवानों को मजदूर बन-कर मजदूरों का प्रत्यक्ष नेतृत्व स्थापित करने के बाद देहाती जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति तथा आतरिक व्यवस्था के

लिए स्वावलंबी बनाने का संगठन करने को कहा, जिससे वे समाज में अति विकसित व्यवस्थापकों तथा वितरकों के हाथ से मुक्ति पा सकें। इस दिशा में उन्होंने चरखा संघ आदि संस्थाओं के कार्यक्रमों में आमूल परिवर्तन किया, जिससे सभी कार्यक्रम पूर्ण ग्राम-स्वावलम्बन की दिशा में चल सकें।

संक्षेप में गांधीजी ने परिवर्तन की दिशा में दुनिया को दुधारा मंत्र दिया। शोषक-वर्ग को शोषण छोड़कर उत्पादक बनने के लिए उनकी विवेक-बुद्धि को जाग्रत किया और शोषित-वर्ग को शोषण से असहयोग करने का संगठन करने को कहा, जिससे शोषक-वर्ग को अब शोषण करने की गुंजाइश नहीं रह जायगी, ताकि परिस्थिति की मजबूरी के कारण वे अपने को मजदूर बनाकर वर्ग परिवर्तन की क्रान्ति की ओर अग्रसर हो सकें।

व्यक्ति नहीं, पद्धति बदलनी है

उपर्युक्त आन्दोलन के संदेश से उन्होंने दुनिया को एक नया मंत्र दिया। उन्होंने क्रान्ति का एक नया क्रान्तिकारी तरीका बताया। वस्तुत व्यक्ति कुछ नहीं है, पद्धति ही असली चीज है। उसीके कारण मनुष्य सुखी या दुखी होता है। अत अगर दुःख से मुक्त होना चाहते हो तो पद्धति बदलो, न कि व्यक्ति। सच पूछिये, तो केन्द्रीय राज्यवाद तथा पूँजीवाद के कारण व्यवस्था वितरण का जो कार्य है, उसीने हुजूरों की आवश्यकता की सृष्टि की और जब तक समाज में उस कार्य की आवश्यकता रहेगी तब तक यह वर्ग किसी-न किसी नाम से कायम रहेगा। इसलिए गांधीजी विकेन्द्रित तथा स्वावलंबी उत्पादन और व्यवस्था द्वारा उस कार्य को ही समाप्त करना चाहते थे, जिससे

कारण आज की वर्ग-विषमता का संकट संसार भर में फैल गया है।

श्रम-विभाजन की बात

देश के पढ़े-लिखे लोगों को जब यह बात बताई जाती है तो वे कहते हैं कि आप एकतरफा बात कहते हैं। यह क्या जरूरी है कि सभी लोग शारीरिक और मानसिक दोनों श्रम करें? वे श्रम-विभाजन की बात करते हैं। वे कहते हैं कि आखिर सब व्यक्तियों की प्रकृति, प्रवृत्ति तथा संस्कृति एक-सी नहीं होती। वे कहते हैं कि प्रकृति की विचित्रता के कारण विभिन्न व्यक्तियों में विभिन्न शक्तियाँ होती हैं और समाज की उन्नति के लिए उन शक्तियों का पूर्ण उपयोग होना चाहिए। ऐसा कहकर श्रम-विभाजन के बहाने वे कुछ लोगों को मानसिक श्रमवाले और कुछ लोगों को शारीरिक श्रमवाले बनाने की बात करते हैं और कहते हैं कि दोनों ही श्रमिक होने के कारण एक ही वर्ग में शामिल हो सकते हैं। विनोबाजी के शब्दों में वे श्रमिक-वर्ग में भी राहु और केतु के रूप में वर्ग करते हैं। लेकिन प्रश्न यह है कि क्या मानसिक श्रमिक और शारीरिक श्रमिक के रूप में दो वर्ग चलाने पर वर्गहीन समाज का उद्देश्य सिद्ध होगा? फिर तो मानसिक श्रमवाले शारीरिक श्रमवाला पर हुकूमत कर उनका शोषण ही करने लगेंगे।

यह कैसी प्रगतिशीलता?

आश्चर्य की बात यह है कि जो लोग मानसिक श्रमिक और शारीरिक श्रमिक के रूप में दो वर्ग रखना चाहते हैं, वे प्राचीन वर्ण-व्यवस्था के खिलाफ हैं। वे अपने को प्रगतिशील कहकर वर्णप्रथा को प्रतिक्रियावादी व्यवस्था कहते हैं। वस्तुतः अगर बौद्धिक श्रमिक तथा शारीरिक श्रमिक यानी ब्राह्मण और शूद्र

रूपी दो वर्ग रखना है, तो समाज की उन्नति के लिए वर्ण-व्यवस्था ही ज्यादा व्यावहारिक है, क्योंकि अगर दो अलग ही वर्ग रखना है तो पैतृक गुण का लाभ समाज को क्यों न मिले ?

वे प्रकृति के नियम और विज्ञान की बात करते हैं। क्या उनके वैज्ञानिक प्राणिशास्त्र में ऐसी बात भी है कि कुछ लोगों का केवल मस्तिष्क बना है और कुछ का शरीर ? कुदरत ने मनुष्य को शरीर और मस्तिष्क, दोनों दिये हैं। उसने मानव को बौद्धिक तथा शारीरिक शक्ति दोनों से विभूषित किया है, इसलिए कि प्रत्येक मनुष्य दोनों को चलाकर प्रकृति में से ही अपने को जिन्दा रखने का साधन निकाल ले और सृष्टि की रक्षा करता रहे। अगर मनुष्य इस नियम का उल्लंघन कर अपने को मानसिक श्रमिक और शारीरिक श्रमिक में विभाजित कर ले तो वह प्रकृति का विद्रोह करता है और प्रकृति इस द्रोह का प्रतिशोध लेकर ही रहेगी। आज हम दुनिया में जो वर्ग विषमता का ज्वालामुखी देख रहे हैं, यह कोई खास बात नहीं है, वह प्रकृति द्वारा प्रतिशोध का प्रदर्शन मात्र है। अतएव अगर हम समाज को स्थिर तथा शांत देखना चाहते हैं, तो हमें वर्ग-परिवर्तन की क्रान्ति कुलाकर मानव-समाज में इस द्रोह का अन्त करना ही होगा।

भूदान यज्ञ और वर्ग-परिवर्तन

सन्त विनोबा द्वारा प्रवर्तित भूदान-यज्ञ वर्ग-परिवर्तन की क्रान्ति

कहना चाहते हैं कि भूमि की उत्पादित सामग्री उन्हींके उपभोग में आनी चाहिए, जो उस पर श्रम करे। इस सिद्धान्त के अनुसार वे भूमिपतियों को भूमि पर श्रम कर अपने को मजदूर-वर्ग में परिवर्तित करके मजदूरों में विलीन होने को कहते है। भूमिदान कहता है कि जिनके पास अधिक भूमि है, वे जितने पर खुद अपने शरीर-श्रम से पैदा कर सकते हैं, उतनी अपने पास रखकर बाकी भूमि उनको दे दें, जो उस पर परिश्रम तो करते हैं, लेकिन जिनके पास भूमि नहीं है।

विनोबा की चेतावनी

विनोबाजी का भूमिपतियों से ऐसा करने को कहना कोई त्याग और मेहरबानी का आवाहन नहीं है। यह मानव-समाज की, देश की और उनकी निर्जी स्वार्थ-रक्षा के लिए एक सामयिक चेतावनी है। जैसा कि मैंने पहले ही कहा है, आज की दुनिया में वर्ग-विषमता का संकट इस पराकाष्ठा पर पहुँच चुका है कि हुजूरों के बोझ से मजदूर दबकर मर रहे हैं और अत्यधिक तादाद हो जाने के कारण पोषण के अभाव से हुजूर सूखकर मर रहे हैं। यही हालत थोड़े दिन जारी रही, तो दोनों के मरने पर सृष्टिनाश यानी सर्वनाश हो जायगा। लेकिन प्रकृति यानी सृष्टि का मूल प्रवृत्ति आत्मरक्षा है, इसलिए वह अपने को मरने नहीं देगी और जिन्दा रहने के लिए कोई-न-कोई उपाय निकालेगी। यही कारण है कि आज का जमाना पुकार-पुकारकर वर्गहीन समाज की माँग कर रहा है। मैंने कहा है कि वर्गहीन समाज दो ही तरीके से कायम हो सकता है। मजदूर द्वारा हुजूरों का कत्ल या हुजूरों का मजदूर बनकर मजदूरों में विलीन होना। आज विनोबा महात्मा गांधी के विलीनीकरण के मंत्र से हुजूर-वर्ग को दीक्षित

करना चाहते हैं। अगर हुजूर घृणा, शान या क्रोध के कारण इस दीक्षा को इनकार करते हैं, तो वे देश और दुनिया और उनके साथ-साथ अपने को ज्वालामुखी के मुख पर ढकेलते हैं।

नौजवान आगे बढ़ें

वस्तुतः आज भारत के नौजवानों पर एक बड़ी जिम्मेदारी आ पड़ी है। आज के युग ने एक महान् चुनौती दी है। इस चुनौती की बात को विनोबाजी देश भर में घूमकर लोगों तक पहुँचा रहे हैं। वह बात है कि क्या नौजवान वर्ग-विषमता के ज्वालामुखी को सामान्य प्रकृति के हाथ में छोड़कर, उसे प्रज्वलित होने देकर सृष्टिनाश यानी सर्वनाश होने देंगे या प्रकृति पर पुरुष के नियंत्रण से सर्वनाश को टालकर सर्वोदय की स्थापना करेंगे? यह तो स्पष्ट ही है कि वर्ग-विषमता का जो महान् संकट आज दुनिया में खड़ा है वह ज्यों-का-त्यों स्थिर नहीं रह सकता। वर्ग-संघर्ष या वर्ग-परिवर्तन किसी-न-किसी रूप में कोई-न-कोई आन्दोलन खड़ा होकर ही रहेगा। अगर जवान अपने पुरुषार्थ से इस चुनौती के जवाब में वर्ग-परिवर्तन की महान् क्रान्ति कर इस विषमता की आग को सहज में ही बुझा नहीं सकेंगे, तो पुरुष के पुरुषार्थ के अभाव में वर्ग-संघर्ष की जो आग पहले से ही सुलग चुकी है, प्रकृति देवी उसीको अपना सहारा बनाकर वर्ग-विषमता दूर करने की कोशिश करेगी। उससे विषमता की आग बुझने के बजाय और प्रज्वलित होकर संसार को सर्वनाश की ओर ले जायगी।

मुझे आशा ही नहीं, बल्कि विश्वास है कि भारत के नौजवान अपनी काहिली और कायरता के कारण इस चुनौती को यों ही न जाने देंगे, बल्कि संत विनोबा द्वारा प्रवर्तित अहिंसक क्रान्ति में हजारों की तादाद में अपनी आहुति देकर अपनी पीढ़ी की शान और आन की रक्षा करेंगे।

प्रश्न—आपने वर्गविहीन समाज कायम करने के लिए जो दो तरीके बताये है, उसमें हिंसा के प्रति अन्याय किया है। आपने कहा है—"एक हिंसात्मक तरीका और दूसरा अहिंसात्मक क्रांति।" माना कि आप हिंसा को अवांछनीय मानते है, लेकिन वह क्रान्ति नहीं है, ऐसा कहना ज्यादती नहीं है क्या?

उत्तर—आपके प्रश्न से ऐसा मालूम होता है कि आपने क्रांति किसे कहते है, इस पर गंभीर विचार नहीं किया। क्रांति का मतलब विध्वंस नहीं, बल्कि परिवर्तन है। एक व्यक्ति क्रान्ति करना चाहता है, इसका मतलब यह है कि वह लोगों की धारणा तथा मूल्यांकन में परिवर्तन लाना चाहता है और जब वह समझता है कि लोगों मे परिवर्तन हो नहीं सकता तब वह कत्ल करता है; अर्थात् हिंसा अविश्वास का इजहार है। ऐसी अविश्वासी प्रवृत्ति से क्रांति सध सकती है क्या?

आप इतिहास के पन्नों मे देखेगे कि हिंसात्मक क्रांति के नाम से संसार मे जहाँ कहीं कुछ हुआ है, वहाँ और चाहे जो कुछ हुआ हो, क्रांति की सिद्धि नहीं हुई है, अर्थात् परिवर्तित समाज स्थापित नहीं हुआ है। कुछ लोगों ने हिंसा द्वारा दमन करके समाज को एक ढाँचे में ढालने की कोशिश की और इस परिवर्तन को अनंतकाल तक दबाकर कायम रखने की चेष्टा की। तो आप कैसे कह सकते हैं कि समाज मे परिवर्तन हुआ? अगर हिंसा द्वारा समाज मे कोई परिवर्तन हुआ दीखता है और उसे हिंसा द्वारा दबाकर ही कायम रखना पड़ता है, तो परिवर्तन

हुआ, ऐसा नहीं कह सकते। क्रांति की सिद्धि की पहचान परिवर्तित समाज के सहज छोड़ने पर ही हो सकती है। अगर परिवर्तित स्थिति अपने-आप स्थिर नहीं रह सकती, तो वह क्रांति नहीं, क्रांति की भ्रांति मात्र है।

आजकल चिकित्सा शास्त्र में डायबिटीज रोग का एक इलाज निकला है। रोगी को आजीवन प्रतिदिन इंजेक्शन लेना पड़ता है। एक दिन भी इंजेक्शन न ले, तो उसके शरीर की शक्कर उभड़ आती है, और इसे डाक्टर लोग इलाज कहते हैं। क्या आप कह सकते हैं कि वह रोगी रोगमुक्त हो गया? इसी तरह अगर लगातार गोली के निशाने पर समाज का मुँह एक दिशा में रखने की जरूरत पड़े, तो क्या आप कह सकते हैं कि उसका मुँह उधर ही हो गया?

इसलिए मेरा कहना है कि अगर वास्तविक क्रांति करनी है, तो वह अहिंसा से ही सिद्ध हो सकती है, क्योंकि अहिंसा स्थायी रूप से मनुष्य की धारणा तथा समाज के मूल्यांकन में परिवर्तन करती है।

प्रश्न—लेकिन आज हिंसा इतनी बढ़ रही है कि उसने गांधीजी को भी कत्ल कर दिया। सारे संसार में एटम बम इत्यादि शस्त्रों के बनाने की होड़ लगी हुई है। ऐसी स्थिति में अहिंसा कैसे चलेगी?

उत्तर—इसीलिए तो आज अहिंसा चलनेवाली है। क्रांति का जन्म तभी होता है, जब संसार में प्रतिक्रियावादी शक्ति पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है। दूसरी ओर से क्रांतिकारी शक्ति का जन्म होते ही प्रतिक्रियावादी शक्ति आत्मरक्षा की अन्तिम चेष्टा में अपनी शक्ति भर विराट रूप धारण करती है। कंस का

अत्याचार बढ़ने पर कृष्ण का जन्म हुआ और कृष्ण का जन्म लेते ही कंस का अत्याचार अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया। लेकिन आपने देखा कि बालक कृष्ण को पालनेवाली यशोदा और गोकुलवासी, कंस के अत्याचार से किंकर्तव्यविमूढ़ नहीं हुए और विश्वास के साथ कृष्ण को मक्खन खिला-खिलाकर मजबूत किया। पुराण की कहानी मे कंस विनाशकारी शक्ति थी और कृष्ण क्रांतिकारी।

उसी प्रकार आज के युग में हिंसा की विनाशकारी शक्ति को बढ़ते देख गांधीजी ने अहिंसा की क्रांतिकारी शक्ति पैदा की। तभी से हिंसा के विकास की भी तेजी बढ़ी। इस हिंसा का विकास देखकर आपको घबड़ाना नहीं चाहिए, बल्कि गोकुलवासी की तरह विश्वास के साथ अपनी जिन्दगी और तपस्या से सींचकर इस क्रांतिकारी शक्ति को बढ़ाना चाहिए। फिर आप देखेंगे कि आज हिंसा चाहे जितना विराट् रूप धारण किये हुए हो, उसकी समाप्ति अवश्यम्भावी है। आज शान्ति के दूत के रूप में पण्डित जवाहरलाल नेहरू का विश्व भर में जो स्वागत हो रहा है, वह इसी दिशा का प्रतीक है।

प्रश्न—आपने वर्ग-परिवर्तन की बात की है, वर्ग-संघर्ष को कतई स्थान नहीं दिया है। इससे आपने सृष्टि के एक बुनियादी तत्त्व को ही इनकार किया है। आखिर वर्ग-संघर्ष भी तो अहिंसक ढंग से किया जा सकता है। गांधीजी और विनोबाजी भी तो हमेशा सत्याग्रह की बात करते हैं। क्या यह संघर्ष का ही अहिंसक रूप नहीं है?

उत्तर—मालूम होता है कि आप अभी भी रूढ़ विचार के बाहर नहीं निकल पा रहे हैं। नयी क्रांति की बात समझने के लिए स्वतंत्र विचार की आवश्यकता है। आखिर उद्देश्य क्या है?

साम्य की प्रतिष्ठा या वर्ग-संघर्ष ? वस्तुतः कठिनाई यह है कि अधिकांश लोग अपने सामने गणेशजी जैसी एक मूर्ति रखकर अहिंसक क्रांति की आराधना करना चाहते हैं—यानी हिंसा के आधार पर जो धारणाएं और मूल्यांकन रूढ़ हो चुके हैं, उसके सारे कलेवर को ज्यों-का-त्यों कायम रखते हुए उसके सिर से हिंसा काटकर अहिंसा रख देने मात्र से ही अहिंसक क्रांति की मूर्ति बन जाती है, ऐसा मानते हैं। लेकिन बात ऐसी नहीं है। अहिंसक क्रांति एक स्वतंत्र तथा मौलिक वस्तु है। आखिर अहिंसा में संघर्ष कहाँ ? अहिंसा के मूल में तो सहयोग ही है।

वस्तुतः यह समझना ही गलत है कि प्रकृति का मूल तत्त्व संघर्ष ही है। ऐसा समझना पश्चिमी एकांगी विचार के असर का नतीजा है। हाँ, इतना आप कह सकते हैं कि प्रकृति में संघर्ष भी है। लेकिन संघर्ष और सहयोग में सहयोग की ही प्रधानता है। प्रकृति के सारे हिस्से एक-दूसरे से बंधे हैं और उनमें सामंजस्य तथा संतुलन है। यह वस्तुस्थिति ही सहयोगिता का प्राधान्य साबित करती है। अगर संघर्ष की प्रधानता होती, तो सारी सृष्टि कब की बिखर गयी होती।

यह सही है कि अहिंसा के क्षेत्र में भी विचार-भेद होता है, लेकिन इस भेद से विचार-संघर्ष पैदा नहीं होता, बल्कि विचार-मंथन होता है। मंथन के नतीजे से आचार निर्दिष्ट होता है और सहयोग के आधार पर वह आचार मूर्तिमान होता है।

आपके प्रश्न से दीखता है कि गांधीजी या विनोबाजी के सत्याग्रह की बात पर आपने गहराई से सोचा नहीं है। इसलिए जरूरी है कि आपको सत्याग्रह और संघर्ष के बारे में स्पष्ट धारणा हो। सत्याग्रह का मतलब विरोध नहीं है। सत्य के लिए आग्रह ही सत्याग्रह है। हम इस सत्य को मानते हैं कि भूमि

उसके पास होनी चाहिए, जो उस पर परिश्रम करे। इस सत्य को स्थापित करने के लिए घर-घर भूमि माँगना सत्याग्रह है और निर्भय होकर अपने हक पर डटे रहना भी सत्याग्रह है। अगर कोई किसान बेदखल होता है और निर्भय होकर वह उस जमीन पर टटा रहता है, तो विरोध वह किसीका नहीं करता है। सिर्फ इतना ही करता है कि कापुरुष जैसा अपने हक को छोड़कर भाग नहीं जाता।

संघर्ष में दोनों पक्षों की ओर से वार होता है। सत्याग्रह में ऐसा नहीं होता। सत्याग्रही अपने सत्य-पक्ष पर स्थिर रहता है और दूसरे पक्ष के वार से दबने से इनकार मात्र करता है। यह संघर्ष नहीं, सत्याग्रह है। जो लोग अहिंसक क्रांति की बात सोचते हैं, उन्हें इस तत्त्व को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए, अन्यथा वे अहिंसा का नाम लेते रहेंगे, लेकिन पुरानी धारणाओं के कारण अपने काम में दिग्भ्रष्ट होकर प्रच्छन्न हिंसा की ओर बहकेंगे। अन्ततोगत्वा वे निष्फलता के गर्त में गिरेंगे और परिस्थिति को प्रतिक्रांतिकारी शक्ति के हाथ में सौंप देंगे।

प्रश्न—भूमिदान-यज्ञ से भूमि का बँटवारा हो जायगा, यह तो समझ में आता है, लेकिन आज जो बड़े-बड़े पूँजीपतियों के पास संपत्ति पड़ी है, उसका बटवारा कैसे होगा और उसके लिए आप कौन-सा कार्यक्रम और आन्दोलन चलाना चाहते हैं?

उत्तर—इसीके लिए तो विनोबाजी ने संपत्ति-दान की बात शुरू की है। कोई भी व्यावहारिक क्रान्तिकारी एक-एक करके कदम उठाता है। विनोबाजी ने पहले भूमिदान-यज्ञ-आन्दोलन शुरू किया। जब उन्हें मालूम हो गया कि भूमिदान-यज्ञ का पैर जम गया, तो संपत्तिदान की बात का और अब इस पर जोर भी देने लगे हैं। यह सही है कि अभी आमदनी का ही छठा हिस्सा

माँगा जा रहा है, लेकिन विनोबाजी हमेशा कहते हैं कि उनकी यह माँग पहला किस्त की माँग है। उन्हींके शब्दों मे कहें, तो वे संपत्ति के अन्दर एक फच्चर ठोक देना चाहते हैं। क्रमश आपको मूल पूंजी का दान भी माँगना होगा।

दूसरी ओर वे भूमिदान-यज्ञ और केन्द्रित उद्योग-बहिष्कार को सीता-राम का तरह अभिन्न मानते हे। भूमि वितरण-आंदोलन के तरीके म और संपत्ति वितरण-आंदोलन के तरीके मे फर्क है। अगर किसी राजा से सारी जमीन मिल जाय, तो उसे खंडित कर उत्पादकों म बाँटा जा सकता है, लेकिन पूँजीपति से अगर सारा-का-सारा कारखाना मिल जाय, तो उसके टुकडे करके बाँटा नहीं जा सकता। इसलिए इस दिशा म दोरुखा आंदोलन चलाना पडेगा। एक ओर से संपत्तिदान तथा पूँजीपतियों से संपत्ति और पूंजी का दान मांगना होगा और दूसरी ओर से केन्द्रित-उद्योग के बहिष्कार और ग्रामोद्योग के संगठन का आंदोलन चलाकर उद्योगों को विकेंद्रित करना होगा। देश के विकेंद्रित उद्योगीकरण के बाद लोगों के पास जो पूँजी एकत्रित हुई है, वह अनुत्पादक होकर खत्म हो जायगी। संपत्तिदान-यज्ञ से इस प्रकार का पूंजी के खत्म होने की प्रक्रिया मे वेग आयगा।

यह सही है कि कुछ ऐसे उद्योग रह जायँगे, जिन्हें केन्द्रित ढंग से ही चलाया जा सकता है। ऐसे उद्योग पूंजी निरपेक्ष नहीं हो सकेंगे। ऐसे उद्योगों को श्रमिकों की सहकारी समिति के हाथ में सौंपना होगा। संपत्तिदान यज्ञ का आन्दोलन आगे बढने पर आपको पूरा-का पूरा कारखाना भी मिलेगा। और जैसे पूरा-का पूरा गाँव मिलने पर उसकी व्यवस्था हम अपने आदर्श के अनुसार चलाने की कोशिश करते हैं, उसी तरह पूरा-

पूरा-पूरा कारखाना मिलने पर उसे सामूहिक रूप से श्रमिकों द्वारा चलवाने का प्रयोग भी करेंगे और क्रमशः सारे अनिवार्य केंद्रित उद्योगों को श्रमिकों के हाथ में सौंप देने का आंदोलन चलायेंगे। ये सब कार्यक्रम संपत्तिदान-यज्ञ के अन्तर्गत है।

पुरानी धारणा के अनुसार आप कह सकते हैं कि ये सरकार के हाथ में क्यों न जायँ। लेकिन अगर आपको शासनहीन समाज कायम करना है तो सारा कार्यक्रम उसी दिशा में होना चाहिए। हमको दंड-शक्ति को क्षीण करने की बात सोचनी चाहिए, न कि उसे मजबूत करने की। वर्षों से देश के नेता शासन और न्याय-विभाग को अलग करने का आन्दोलन कर रहे हैं। हम ऐसा क्यों चाहते हैं? इसलिए कि हमारी राय में अगर शासन और न्याय एक ही हाथ में रहेगा, तो न्यायशक्ति को शासन के क्षेत्र में इस्तेमाल किया जायगा। इसी तरह अगर हम दमन का साधन और उत्पादन का साधन एक ही हाथ में रखेंगे, तो उत्पादन को दमन के काम में लाकर दंड-शक्ति अपने को मजबूत बनाने की कोशिश करेगी। यही कारण है कि हम अनिवार्य केंद्रित उद्योगों को भी सरकार के हाथ में न रखकर जनता द्वारा चालित स्वतंत्र और सामूहिक संस्था के हाथ में सौंपना चाहते हैं।

प्रश्न—पश्चिमी औद्योगिक मुल्कों में भी विकेंद्रीकरण की बात की जा रही है, तो उसमें और सर्वोदयी विकेंद्रीकरण में क्या फर्क है?

उत्तर—पश्चिम में जो विकेंद्रीकरण की बात करते हैं, उसमें उत्पादन की पद्धति बदलने की बात नहीं है। वे पूँजीवादी पद्धति को बदलकर श्रमवादी पद्धति नहीं कायम करना चाहते। उनका

निकेंद्रीकरण भौगोलिक है, यानी बम्बई में सारी कपड़े की मिल न होकर जिन इलाकों में रूई पैदा होती है, उन इलाकों में जगह-जगह एक-एक मिल रखी जाय।

एक दूसरे किस्म का विकेंद्रीकरण जापान में चल रहा है। उसमें कुछ कुछ कुटीर-उद्योगों की बात भी है, लेकिन वह पूँजी-निरपेक्ष स्वावलम्बी पद्धति नहीं है। वह केंद्रित पूँजी सचालित दस्तकारी पद्धति है।

प्रश्न—लेकिन आज के वैज्ञानिक युग में ग्रामोद्योगी विकेंद्रीकरण कैसे चलेगा? क्या आप विज्ञान को स्वावलम्बन की बलिवेदी पर चढ़ाना चाहते हैं?

उत्तर—*यह सवाल प्रायः सभी आधुनिक पढ़े-लिखे लोगों के* दिमाग में आता है। इसका कारण यह है कि लोग विज्ञान का मतलब नहीं समझते। विज्ञान कोई एकांगी वस्तु नहीं है, वह तो प्रकृति के सर्वांगीण नियम के आधार पर बना है। किन्तु लोगों ने शायद विज्ञान का मतलब सिर्फ यंत्र शास्त्र समझ लिया है। विज्ञान केवल यंत्र-शास्त्र नहीं है। राजनीतिशास्त्र, समाज-शास्त्र, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान, शरीर-तत्त्व आदि सब विज्ञान के विभिन्न अंग हैं। जो चीज विज्ञान के सारे अंगों का सामंजस्य नहीं रख सकती, वह अवैज्ञानिक है। कोई यंत्र यंत्र शास्त्र के

छोटी-सी मिसाल लीजिए—खाद्य का वैज्ञानिक उद्देश्य स्वास्थ्य-रक्षा है। अगर किसी किस्म की आटा पीसने या तेल पेरने की मशीन से निकले हुए आटे या तेल का खाद्य-गुण घट जाता है, तो वह मशीन भले ही यंत्र के हिसाब से वैज्ञानिक हो, लेकिन खाद्य-उत्पादन के औजार के रूप में अवैज्ञानिक समझी जायगी। फिर यंत्रशास्त्र एक शास्त्र है, कोई मशीन मात्र नहीं है। एक ही वैज्ञानिक नियम से छोटा या बड़ा यन्त्र बनता है। अगर मशीन छोटी हो, तो लोगों की धारणा में अवैज्ञानिक है और बड़ी हुई, तो वैज्ञानिक हो जाती है, ऐसा सोचना ठीक उसी प्रकार है जैसे देहात के लोग बैंगन, कुम्हड़ा आदि के मामले में, यदि चीज छोटी हो तो उसे देशी और बहुत बड़ी हो जाने पर विलायती कहते हैं। आपको समझना चाहिए कि छोटी मशीन के आविष्कार में वैज्ञानिक बुद्धि अधिक लगानी पड़ती है।

दरअसल हम स्वावलम्बन की बलिवेदी पर विज्ञान को बलिदान नहीं करना चाहते, बल्कि आज की दुनिया में वैज्ञानिक विकास के नाम पर विज्ञान की जो हत्या चल रही है, उसे रोकना चाहते हैं।

प्रश्न—आपने यह कहा है कि गांधीजी ने शिक्षा के लिए वर्तमान हुजूर बनाने के कारखानों को बन्द करके सारी शिक्षा-योजना शरीर-श्रम द्वारा उत्पादन की प्रक्रिया के माध्यम से ही हो, ऐसा कहकर वर्ग-परिवर्तन के लिए सक्रिय मार्ग उपस्थित किया था। इस पद्धति का स्वरूप आज तक स्पष्ट नहीं हुआ है। क्या आप इस पर ब्यौरेवार प्रकाश डालेंगे?

उत्तर—मैंने बताया है कि सहकारी समाज में प्रत्येक व्यक्ति का आर्थिक तथा सांस्कृतिक स्तर समान होना चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि समाज की प्रत्येक प्रक्रिया ही शिक्षा का

माध्यम बने, अन्यथा प्रत्येक मनुष्य पूर्ण रूप से शिक्षित हो ही नहीं सकता।

मानव-समाज में जितने कार्यक्रम हैं, वे मुख्यत तीन हिस्सा में बाँटे जा सकते हैं

(१) उत्पादन की प्रक्रिया,
(२) समाज-व्यवस्था,
(३) प्रकृति के साधना की खोज।

प्रत्येक मनुष्य जन्म से लेकर मृत्यु तक इन तीन कार्यक्रमों में से किसी-न-किसी कार्यक्रम में लगा रहता है। यही कारण है कि गांधीजी ने इन तीनों कार्यक्रमों को शिक्षा का माध्यम माना है और यह कहा है कि शिक्षा की अवधि जन्म से मृत्यु तक होती है।

पहले उत्पादन की प्रक्रिया को लीजिये। उत्पादन के दो हिस्से हैं—कृषि और उद्योग। कृषि का काम शिक्षा के सभी स्तरों के माध्यम के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है, लेकिन जैसा कि मैंने कहा है, सर्वोदय समाज में उद्योगों के तीन प्रकार होंगे—गृह-उद्योग, ग्राम-उद्योग और राष्ट्र उद्योग।

गृह-उद्योग की प्रक्रिया बुनियादी दर्जों के लिए माध्यम होगी। ग्राम-उद्योग की प्रक्रिया उत्तर बुनियाद के लिए और राष्ट्र-उद्योग की प्रक्रिया उत्तम बुनियादी यानी विश्वविद्यालय के दर्जों के लिए माध्यम रहेगी। इस प्रकार उद्योग के सभी प्रकार शिक्षा के माध्यम के रूप में शिक्षण-संस्थाओं के मातहत हो जायँगे। फिर आज जो एक बहस चलती रहती है कि केन्द्रित उद्योग सरकार के हाथ में या व्यक्तिगत पूँजीपति के हाथ में या स्वतंत्र संस्था के हाथ में रहेगा, वह खतम हो जायगी। यह

किसीके हाथ मे नहीं रहेगा। वह शिक्षण-प्रक्रिया का अग होकर चलता रहेगा।

सामाजिक वातावरण का माध्यम इस प्रकार से इस्तेमाल किया जा सकेगा—पुरानी तालीम मे शिक्षक छात्रो को घर के लिए सबक दिया करते हैं, उसी तरह समाज-व्यवस्था, सर्वे आदि के विषय मे नयी तालीम के विद्यार्थियों को घर के लिए सबक देना होगा। विभिन्न कक्षाओं के लिए हलके और कठिन तरह-तरह के सबक होंगे और उनके माध्यम से विभिन्न विषयो की जानकारी करायी जायगी। इस प्रकार समाज-व्यवस्था भी जब शिक्षण के माध्यम के रूप मे इस्तेमाल होगी, तब सचालित समाज के स्थान पर स्वावलम्बी समाज सहज ही चल सकेगा। उस समय ग्राम-पचायत गाँव की सचालिका न होकर शिक्षार्थियो के शिक्षक के रूप मे रहेगी।

उसी तरह प्राकृतिक साधनों की खोज के कार्यक्रम भी योजनापूर्वक शिक्षा के माध्यम के रूप मे इस्तेमाल करने होंगे।

यह योजना की सामान्य रूपरेखा है। अधिक ब्यौरे के लिए आपको प्रत्यक्ष कार्य मे लगना होगा।

●